अजनबी होती ख़ुदी

सिनेमा के शहर में हिंसा का दैहिक अभिनयः 1974-2003

रवि वासुदेवन

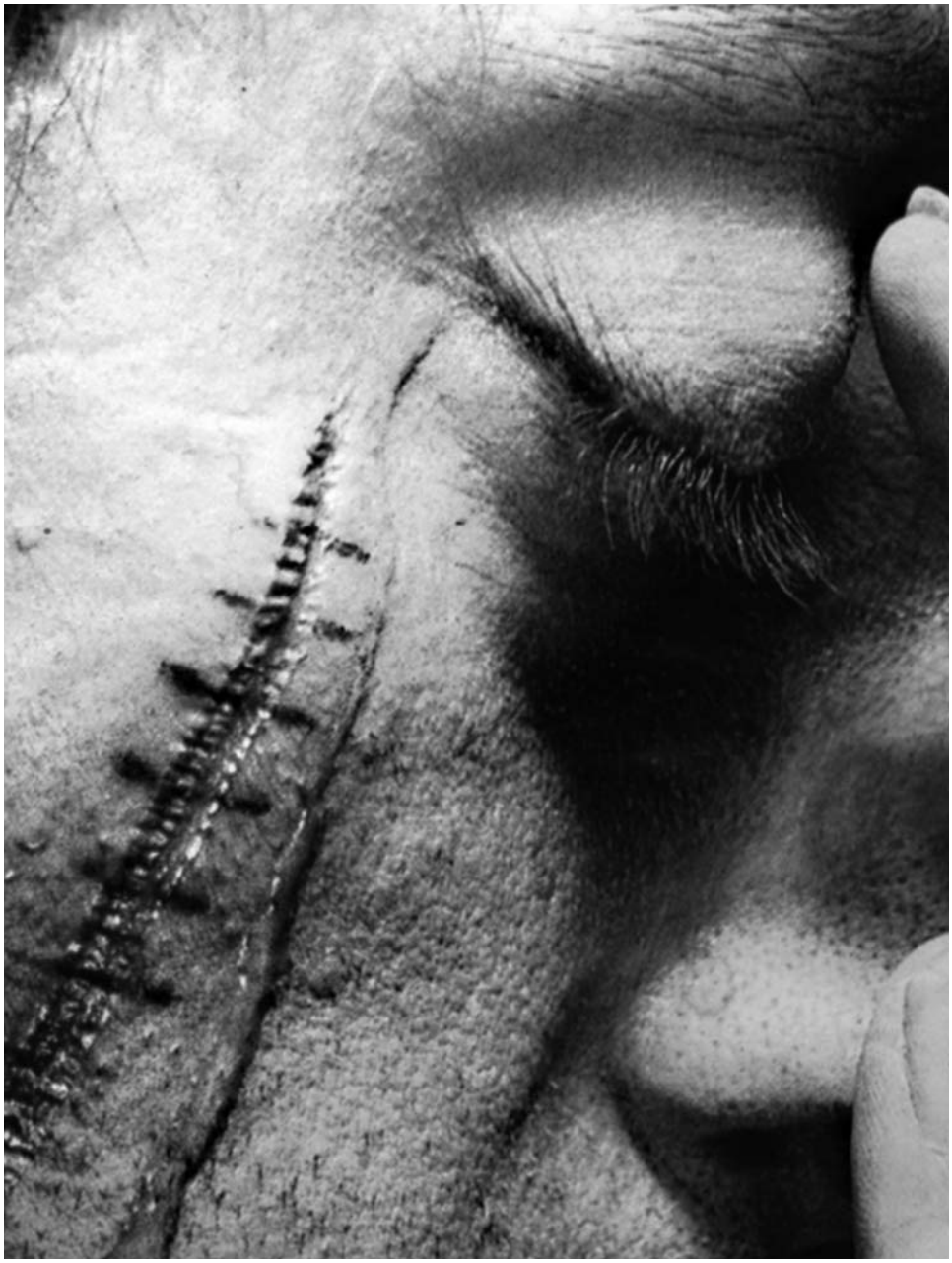

जब हम अपने दौर पर नज़र डालने की कोशिश करते हैं तो हमारे सामने मौजूद छवियाँ और उनके आख्यान की बुनावट हमें बार-बार दूसरे दौरों की तरफ़ खींचती है। हमारा वक़्त जैसे तस्वीरों की शृंखला की एक परत हो जो दूसरी छवि-शृंखलाओं की परतों पर चस्पाँ है। यह ठीक वैसे ही है जैसे संगीत की कोई स्वरलहरी हमें बार-बार पुराने ज़माने की धुनों और उनकी आवाज़ों की तरफ़ खींचती है। एक स्तर पर इसका ताल्लुक़ आत्म के गठन से है, अपनी ख़ुद की बुनावट से। यह एक लाज़िमी बात है कि हर पीढ़ी आज की पीढ़ी को अपने-अपने वक़्ती पैमानों और कसौटियों पर कस कर देखना चाहती है। परंतु यदि हम ख़ुद को अपने इन मनोगत बंधनों की क़ैद से बाहर निकाल लें तो हमारे सामने सिनेमा का एक ऐतिहासिक संस्थान खड़ा दिखाई देता है। उसमें काम करने वालों के परत-दर-परत अनुभवों, अपने निरूपण व प्रदर्शन के कोड, और अपने आख्यानमूलक रूपकों से बना यह सिनेमा हमारे सामने ऐसे-ऐसे सामयिक वृत्त खोलता है जिनकी बिना पर इस हद तक दावे किए जाने लगते हैं कि समकालीन क्षण इतना विशिष्ट और अनूठा है कि किसी और क्षण से उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती।

आज के सिनेमा में शहरी निर्मिति के निरूपण से सिनेमाई प्रस्तुतीकरण के इतिहास के कई पुराने क्षण हमारी यादों में कौंध जाते हैं। मुंबई का विक्टोरिया टर्मिनस, गगनचुंबी इमारतें, मध्यवर्गीय घरों और निम्न-आयवर्गीय झोपड़पट्टियों के भीतरी आयाम, उनकी साज-सज्जा, फ़ैक्ट्रियाँ, गोदाम, गोदियाँ, निर्माण स्थलों का विषम, बदरंग चेहरा, शॉपिंग मॉल और बाज़ार — ये ऐसे सार्वजनिक स्थान हैं जो समय की सीमाओं को लाँघ कर हमें अपनी अनुगूँज सुनाते हैं और स्क्रीन पर दिखने वाले व्यक्तित्व, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि, उनकी विधागत पहचान और अदाकारी के नाज़ो-अंदाज़ व्यक्तित्व की पुरानी रचनाओं से एक संवाद स्थापित करते हैं। इस निबंध में मैं — शहर और देह — इन्हीं दो दायरों पर विचार करूँगा। मैं इन दोनों के विश्लेषण के ज़रिए यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि ये दोनों तत्व सिनेमा के आख्यान के धरातल पर किस तरह एक-दूसरे में गुंथते हैं, बुने जाते हैं। देखने के इन तरीक़ों की मेरी यह खोज बुनियादी तौर पर तो सिनेमा में मुंबई को लेकर रचे गए अनुभवों पर केंद्रित रहेगी। मगर बीच-बीच में यह जुस्तजू इस दायरे के परे भी चली जाएगी ताकि यह भी पता चल सके कि देह व स्थान के बीच की इन अंतर्क्रियाओं के ज़रिए ग्रामीण जीवन और वैश्विक स्वरूप के साथ-साथ विभिन्न दूसरे दायरे भी किस तरह एक ख़ास शक्ल ग्रहण करते जाते हैं। मेरे इस विश्लेषण के केंद्र में देह है — हिंसा के लक्ष्य एवं हिंसा के वाहन के रूप में भी और अभिनय के वाहन एवं साधन के रूप में भी। मेरे कहने का आशय है कि यह एक ऐसी विधा है जो एक तरफ़ तो देह को कौशल और नाटक का विषय बना देती है और दूसरी तरफ़ उसका कायान्तरण भी करती जाती है। इसमें देह के भीतर क़ैद आत्म ही नहीं होता, उन दोनों के बीच एक विच्छेद भी होता है जिसके ज़रिए हमें देह को एक व्याख्यात्मक वाहन के रूप में देखने का मौक़ा मिलता है।

सिनेमा को लेकर राज्य और नागर समाज के पैमाने पर चलने वाले विमर्श के आयाम गहरे तौर पर बदल चुके हैं। इस संदर्भ में बॉलीवुड भी एक महत्वपूर्ण शब्द है जो समकालीन मुंबइया सिनेमा का शॉर्टहैन्ड पर्याय बन चुका है। मोटे तौर पर ऐसा लगता है कि यह शब्द मुंबइया सिनेमा के एक अच्छे-ख़ासे विदेशी बाज़ार के अस्तित्व में आने से पैदा हुआ है। यह बाज़ार कथित परंपरागत परिवार के रीति-रिवाजों के मंचन के ज़रिए भारतीयता की एक विस्तृत संकल्पना का निर्यात करता है। कुछ लोगों का कहना है कि इस तरह का सांस्कृतिक स्वरूप उन हिंदुस्तानियों के लिए अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव की ज़रूरत और उसके पुनरुत्पादन की ज़रूरत को पूरा करता है जो 'मातृभूमि' के बाहर जा बसे हैं। तर्क दिया जाता है कि इस तरह का आख्यान आंतरिक दायरे में भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि बाहरी दायरों में, क्योंकि पिछले दसेक सालों के भीतर भारतीय समाज इस कदर खुल चुका है कि 'परंपरागत' संस्कृति को घरेलू स्तर पर भी, यानी ख़ुद अपने देश में भी ख़तरा महसूस होने लगा है। बॉलीवुड का मसला जटिल है। इसमें वैश्वीकरण, सरकार की संस्कृति संबंधी नीतियों, सिनेमा, फ़ैशन, विज्ञापन एवं संगीत के बीच नए सेतुओं, और उपयोग की संस्कृति की एक नई चकाचौंध जैसे विविध मुद्दे शुमार हैं।[1] मौजूदा निबंध के दायरे को देखते हुए फ़िलहाल इस महत्वपूर्ण परिघटना को परे रख कर चलना बेहतर रहेगा ताकि वर्तमान का एक और नज़रिया सामने आ सके और 'हमारे दौर' को समझने का एक भिन्न रास्ता खुल सके।

अपने विश्लेषण की शुरुआत के लिए मैं सत्तर के दशक की ओर लौटना चाहता हूँ। इस ज़रिए मैं सिनेमा और सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के बीच से गुज़रती हुई एक कहानी आपके सामने पेश करने की कोशिश करूंगा। उस समय भारतीय राज्य, सामाजिक व नागरिक संस्थान, सांगठनिक ढाँचे और सांस्कृतिक स्वरूप/विधाएँ एक गहरे संकट के दौर से गुज़र रही थीं। यह ऐसे बदलाव थे जिनके परिणाम हमारे सामने तत्काल स्पष्ट नहीं थे। 1974 में हुई एक बड़ी रेलवे हड़ताल ने पूरे देश को ठप्प कर दिया। सरकार ने न केवल इस हड़ताल को तोड़ दिया बल्कि अस्सी के दशक की शुरुआत में कपड़ा उद्योग में हुई विशाल हड़ताल भी नाकामयाब हो गई। ये घटनाएँ संभवतः हमारे देश में ट्रेड यूनियनों के दीर्घकालिक पतन का संकेत थीं। सत्तर के दशक की शुरुआत में भ्रष्टाचार के सवाल पर राज्य सरकारों के ख़िलाफ़ भी बड़े-बड़े आंदोलन हुए। इन आंदोलनों से बिहार और गुजरात पूरी तरह हिल उठे थे। इन घटनाओं से साफ़ ज़ाहिर होता था कि जनभावनाएँ सत्तासीन कांग्रेस पार्टी के ख़िलाफ़ हैं। परंतु यह जनमत सामाजिक गठबंधन के उन स्वरूपों और सहमतियों के भी ख़िलाफ़ था जिनका यह पार्टी आज़ादी से अब तक प्रतिनिधित्व करती आ रही थी। गहराते विरोध को देखते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा कर दी, विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया, नागरिक अधिकार रद्द कर दिए, चौतरफ़ा सेंसरशिप लागू कर दी और कार्यपालिका को बेइंतिहा अधिकार दे दिए। सरकारी नीतियों के स्तर पर यह तानाशाही कुछ ऐसे परिणामों का प्रतीक और प्रारंभिक संकेत थी जो पिछले दसेक सालों के दरमियान खुल कर हमारे सामने आए हैं। भारतीय शहरों की लगातार बढ़ती जटिलता से निपटने के लिए सरकार ने जो रवैया अपनाया वह भी इन्हीं परिणामों में से एक है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन सालों में भारतीय शहरों की तरफ़ आने वाली और यहाँ बसने वाली आबादी में भारी इज़ाफ़ा हुआ है।[2] आपातकाल को सही ठहराने के लिए तात्कालिक रूप से सरकार की कार्यकुशलता का ढिंढोरा पीटा गया। आपातकाल के एजेंडा के तहत समाज को अनुशासित करने की मुहिम छेड़ दी गई। इस मुहिम में नसबंदी के लिए चलाए गए बदनाम सरकारी अभियान और झोपड़पट्टियों के सफ़ाए तथा पुनर्वास की योजनाएँ भी शामिल थीं।[3] इनमें से कई अभियानों को आपातकाल के ख़िलाफ़ हुई उग्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बाद में रद्द कर दिया गया। अब, पिछले दसेक सालों के दौरान ज़्यादातर पुराना एजेंडा दोबारा हमारे सामने आ खड़ा हुआ है। ख़ासतौर से शहरों की 'अराजक' और 'प्रदूषक' जनता को सरकार ने सफ़ाई व सुधार का एक मुख्य निशाना बना लिया है। बेशक, सत्तर के दशक की सरकारें संरक्षणवादी नीतियों के दायरे में काम करती थीं इसलिए उनके हालात काफ़ी अलग क़िस्म के थे जबकि आज की सरकारें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को काफ़ी हद तक खोल चुकी हैं। अब सरकार शहरों के पुनर्गठन के लिए बहुत सारे राजकीय हस्तक्षेपों को विदेशी निवेश की आमद के उद्देश्य से चलाना चाहती है।[4]

यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस बात का संकेत है कि इस दौर के सांस्कृतिक सफ़र को भी एक जटिल इतिहास के आईने में ही देखा जा सकता है। स्वतंत्र राज्य का एक एजेंडा यह था कि आधुनिक सांस्कृतिक मानकों का विकास किया जाए। राज्य ने 'अच्छे' सिनेमा को सहायता देने की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर ली। यह 'अच्छा' सिनेमा प्रयोगवादी से लेकर सामाजिक यथार्थवादी तक, किसी भी प्रकार का हो सकता था। माधव प्रसाद ने इस बात का विश्लेषण किया है कि इन कोशिशों से सत्तर के दशक में किस तरह सिनेमा का एक विभेदीकृत दायरा सामने आया। माधव प्रसाद ने सिनेमा की जिन अलग-अलग श्रेणियों की शिनाख़्त की है उनमें एक राज्य समर्थित सिनेमा भी था। यह सिनेमा विकासवादी यथार्थवाद की बुनियाद पर खड़ा था। इसके अलावा एक मध्यवर्गीय सिनेमा था जो सामान्य और दैनंदिन को समर्पित था। तीसरी श्रेणी के सिनेमा को माधव प्रसाद उद्योग जगत द्वारा शुरू की गई गोलबंदी का सौंदर्यबोध कहते हैं।[5] यह बाद वाली श्रेणी आख्यान की विषयवस्तु की ओर भी इशारा करती है और एक ख़ास तरह के सिनेमा के प्रति राज्य के हस्तक्षेप और सहायता के कारण उद्योग के सामने पैदा हो रहे आशंकित ख़तरे के ख़िलाफ़ व्यापक जनता को सिनेमा हॉल की तरफ़ खींचने की मजबूरी के बारे में भी बताती है।

पीछे मुड़कर देखने पर: बिखरता फ़लक

प्रसाद ने सिनेमाई विविधता के अपने ब्यौरे में जिस वैचारिक विधेयात्मक भूमिका का ख़ाका खींचा है, इस निबंध में मैं उसे अब आराम देना चाहता हूँ। इसकी बजाय मैं सिनेमाई आचार के पूरे विस्तार पर नज़र डालता हूँ; यह

मंज़र कुछ चटखता-सा दीखता है। ये सामाजिक बदलाव के सर्वस्वीकृत मानकों को प्रश्नांकित करने के मौक़े हैं, और इसमें सामाजिक यथार्थ के पाठ हैं तो विखंडन के लोकप्रिय-रूप भी, और साथ ही सिनेमा द्वारा उद्धृत वृहद् ऊर्जा-क्षेत्र भी हैं। ये आचार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आकांक्षाओं के क्षितिज को अस्त-व्यस्त करने का काम करते हैं। इसके लिए उन प्रतीकों और छवियों को निशाना बनाया जाता है जिनके ज़रिए इन आकांक्षाओं और कल्पनाओं ने शक्ल अख़्तियार की थी। यदि विधाओं की बात करें तो इसमें लेखकीय सिनेमा से लेकर लोकप्रिय मारधाड़, घरेलू मेलोड्रामा और हल्की/भोंडी कॉमेडी तक तमाम तरह की क़िस्में आती हैं। ऐसे में यह हमारे इतिहास को आलोचनात्मक नज़रिए से परखने की नई दृष्टि देता है।

अपने विश्लेषण में सबसे पहले मैं ऐसी कृतियों की ओर ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ जिन्होंने एक लिहाज़ से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए न तो कभी कोई ख़ास प्रतीक गढ़े और न ही किसी आकांक्षा के किसी निश्चित क्षितिज की रचना की। मिसाल के तौर पर वामपंथी बंगाली निर्देशक ऋत्विक घटक की कृतियाँ ली जा सकती हैं जिनमें भारत के विभाजन के ऐतिहासिक महाविनाश को सिनेमा के पर्दे पर दर्ज किया गया। विभाजन के अकल्पनीय रक्तपात और विस्थापन ने ऋत्विक घटक के कृतित्व पर गहरी छाप छोड़ी। वह लंबे समय तक इस हिंसक विच्छेद की परिणतियों की रचनात्मक ढंग से जाँच-पड़ताल करते रहे। पात्रों और मंच-सज्जा के निर्धारण में मिथकीय और महाकाव्यात्मक अनुगूँजों का प्रयोग करते हुए अपनी रचनाओं में उन्होंने इस बात को दर्ज किया कि इस विस्थापन ने जीवन को समेटकर दोबारा ढर्रे पर लाने की कोशिशों को किस क़दर मुश्किल बना दिया है। बात चाहे घर की हो, रैडिकल समूह की हो या एक यथार्थवादी एवं तार्किक मीमाँसा/अस्तित्व की हो — यह मुश्किल हर जगह पेश आ रही थी। 1974 में घटक ने एक ऐसी फ़िल्म बनाई जिसे उनकी वसीयत कहा जा सकता है। उनकी फ़िल्म *जुक्ति तक्को आर गप्पो* (तर्क, विमर्श और गप) कई मायनों में पुराने सांस्कृतिक रूपों को ही आगे बढ़ाती है। इसमें भी लोक नृत्य (छाऊ) की परंपरा, युद्ध के बाद विस्थापित हो चुकी बंगलादेशी औरत के प्रतीकात्मक साज़ो-सामान, चरम वामपंथी नक्सली आंदोलन की विफलता पर चिंतन-मनन के साथ-साथ चालू क़िस्म के प्रतीकशास्त्र और आत्मकथाओं सहित तमाम तरह की रचनात्मक सामग्री दिखाई देती है।[6]

एक लिहाज़ से देखें तो यह कृति रूपों में बिखराव, एक क़िस्म के विखंडन की ओर संकेत करती है, ताकि उसके विभिन्न घटक तत्वों के बीच निहित संबंधों की पड़ताल की जा सके। मेरे ख़याल में सिनेमा के अलग-अलग दौरों में इस बिखराव की ज़बर्दस्त अनुगूँज सुनाई देती है, हालाँकि इतना ज़रूर है कि यह अनुगूँज कई अलग-अलग तरीक़ों से हम तक आती है। इस अवधारणात्मक बदलाव को रेखांकित करने के लिए यहाँ मैं मुख्यधारा के सिनेमा से कुछ उदाहरण सामने रखना चाहता हूँ। 1957 की लोकप्रिय क्लासिक *मदर इंडिया* (महबूब ख़ान) में एक किसान औरत, राधा, की कहानी कही गई है। फ़िल्म में यह औरत भुखमरी और तमाम तरह के अपमान का साहसपूर्वक मुक़ाबला करते हुए अपने बच्चों को पालती है। इस फ़िल्म का आख्यान राधा के इर्द-गिर्द घूमता है जो अब गाँव की 'माताजी' बन चुकी है और उसे गाँव के बाहर बनाए जा रहे बाँध के निर्माण की देखरेख का ज़िम्मा सौंपा गया है। यहाँ प्रौद्योगिकी के रास्ते से आने वाली संपन्नता के राष्ट्रवादी सपने में माँ और पृथ्वी प्रकृति के रूप में एक दूसरे में गुंथ जाते हैं। नेहरू ने तो कहा ही था कि बांध आधुनिक भारत के मंदिर हैं। मगर इसी पृष्ठभूमि में फ़िल्म का कथानक इस आशय का संकेत देता है कि एक कष्ट उठाती और क़ुर्बानी देती माँ की छवि ही सार्थकता और मूल्य का सबसे बड़ा स्रोत है। इसके तक़रीबन चौथाई सदी बाद *कुली* (मनमोहन देसाई, 1983) में ख़ालिस निर्दयता और चौधराहट की चाह के तहत एक दरिंदा गाँव को डुबोने के लिए बांध के दरवाज़े खोल देता है। इस दृश्य में प्रौद्योगिकी विपुल संपन्नता का कृपालु वाहन नहीं बल्कि ध्वंस और तबाही का एक नृशंस साधन बनकर सामने आती है।

यह कथानक नेहरू के विकासवादी स्वप्न की युगांतरकारी प्रति-अभिव्यक्ति है। इस दौर से ऐसी छवियाँ बड़ी तादाद में सामने आने लगती हैं। आधुनिकीकरण और नेहरू की नई आस्था के अनगिनत प्रतीक आधुनिकतावादी लोककला की स्याही के तले दबकर दम तोड़ने लगते हैं। कभी रेलवे को नए अनुभवों के पसरते फलक से वाक़िफ़ कराने वाले जादुई वाहन के तौर पर देखा जाता था जिसे सबसे मशहूर ढंग से संभवतः *पाथेर पाँचाली* (सत्यजीत रे, 1955) में दिखाया गया था। परंतु *ज़ंजीर* (प्रकाश मेहरा, 1973) जैसी फ़िल्मों में रेलगाड़ी को बिल्कुल अलग

रंग-रूप में पेश किया जाता है। यहाँ इंसान की ज़िंदगी दुर्घटनाओं के फ़ौरी ख़ौफ़ की क़ैद में रहती है। इस फ़िल्म में ज़िंदगी की अनिश्चितता की अस्तित्ववादी अभिव्यक्ति के तौर पर एक व्यक्ति सवारी रेलगाड़ी से गिरकर मौत के मुँह में चला जाता है। इसी फ़िल्म में एक और जगह रेल का पुल और रेल की पटरियाँ नायक की निर्मम मारपीट की प्रतीकात्मक पृष्ठभूमि बन जाती हैं।[7]

पचास के दशक में लोकप्रिय या कला, दोनों क़िस्म के सिनेमा में श्रम या कामकाज को आमतौर पर निरूपित नहीं किया जाता था मगर इस नए दौर में गोदियों, गोदामों, रेलवे प्लैटफ़ॉर्मों, खदानों, और निर्माण स्थलों के यथार्थवादी चित्रण के ज़रिए श्रम की दुनिया को निरूपित किया जाने लगा। लेकिन यहाँ आदर्श की दुहाई नहीं दी गई है, पूरी फ़िल्म की शख़्सियत, औद्योगिक मशीनी लय में बँधी हुई दिखाई देती है। *दीवार* (यश चोपड़ा, 1974) में विजय नामक प्रवासी बाल मज़दूर अपनी माँ के अपमान से तिलमिला रहा है। यहाँ उसका ग़ुस्सा ज़मीन तोड़ने वाली ड्रिल मशीन के कम्पनों में अभिव्यक्त होता है। एक और जगह पर शहर का फ़लक हिंसक और सदमाकुन परिणतियों के लिए संदर्भ उपलब्ध कराता है। उसी तरह जैसे *मुक़द्दर का सिकंदर* (प्रकाश मेहरा, 1978) में अमिताभ बच्चन व एक और सबॉल्टर्न पात्र परदे के पीछे की ताक़तों की चालबाज़ी का शिकार होकर ग़लती से एक-दूसरे पर हमला कर बैठते हैं। निर्माण स्थल पर जूझ रहे ये दोनों पात्र निर्माणाधीन इमारत के मलबे से अपने हथियार चुनते हैं — एक बनते हुए शहर का निर्मम शस्त्रागार बलि ले रहा है।

इस सिनेमाई दुनिया की औपचारिक संरचनाओं में यथार्थवादी साँचे और अतिनाटकीय स्वैरकल्पनाएँ/फंतासियाँ एक-दूसरे के साथ चलती हैं। यहाँ यथार्थ के चित्रण और उसके काल्पनिक, अनपेक्षित कायांतरण के बीच आवाजाही के लिए शहर अकसर एक महत्वपूर्ण मंच बन जाता है। बच्चन की देह मुंबई के शहरी परिदृश्य की लंबवत् रेखाओं के वास्तु से एकमेक हो जाती है। दिल्ली को पृष्ठभूमि में रखकर बनाई गई यश चोपड़ा की *त्रिशूल* (1978) में निर्मम व्यावसायिक तर्क की बुनियाद पर खड़े कथानक के ज़रिए ख़ुदी का एक बर्बर रूपान्तरण दिखाई देता है। एक क़ाबिल युवा अफ़सर ऐसे कॅरियर के लिए अपनी प्रेयसी को भी छोड़ देता है जो दिल्ली के दिनोंदिन फैलते निर्माण व्यवसाय में एक दिन उसे पहली पायदान पर पहुँचा देगा। मगर उसे इस बात का इल्म नहीं है कि पिछले संबंध से उसका एक नाजायज़ बेटा भी है और वह अपने दिल में यही महत्वाकांक्षा लेकर बड़ा होता है कि एक दिन वह अपने पिता के साम्राज्य को मिट्टी में मिला देगा। वह पूरे शहर को अपनी माँ के नाम पर 'शांति कंस्ट्रक्शन्स' के बैनरों से पाट देना चाहता है। इस फ़िल्म में, और कई दूसरी फ़िल्मों में भी, बच्चन शहर के निर्मित वातावरण को बार-बार एक परायी दुनिया के रूप में देखता है। यह ऐसा दायरा है जिसे बहिष्कृत मज़दूर, यानी उस माँ के नाम पर दोबारा कब्ज़े में लिया जाना है जो मज़दूर होने के साथ-साथ ज़िंदगी और श्रम, दोनों की जननी भी है।

अपरिहार्य नैतिकता के उपहास का आख्यान शहर के चेहरे पर हर तरफ़ दिखाई देता है। शहर शृंखला पर सत्यजीत रे की अंतिम फ़िल्म, *जन अरण्य* (1975) में मानवतावादी परिवेश में एक निराश कल्पना का उदय होता दिखाई देता है। आमतौर पर एक स्पष्ट नैतिकता से परिभाषित होने वाला उनका नायक यहाँ संदेहास्पद हो जाता है। उनका यह नायक पढ़ने में तो तेज़ है मगर परीक्षा व्यवस्था की ख़ामियों का शिकार होकर एक दिन किसी दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाता है। एक क़िस्म के आकर्षण के तहत वह ऐसे बिचौलियों की दुनिया में पहुँच जाता है जो रिश्वत और दलाली के ज़रिए ठेके लेते हैं। यहाँ एक से एक भ्रष्ट किरदारों की लंबी नुमाइश खड़ी कर दी गई है जिन्हें रोबी घोष जैसे बड़े-बड़े चरित्र अभिनेताओं ने पर्दे पर उतारा था। इस फ़िल्म में शहर कुछ ख़ास आचारों और गतिविधियों का दायरा है। यह आचार राजनीतिक दलों के दफ़्तरों, सरकारी दफ़्तरों, नफ़ीस वेश्याघरों और सम्मानजनक रेस्त्राँओं में, सब जगह दिखाई देता है। शास्त्रीय फ़िल्म विधा और कथानकीय एकीकरण के भारतीय शिल्पी, सत्यजीत रे, संभवतः उस काल के स्वाभाविक प्रतीक रूप में एक ऐसा दृश्य उपलब्ध कराते हैं जिसमें आकस्मिक और नैतिक सामंजस्य की बजाय एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले आकर्षण और लिप्साएँ भी वजूद में आती दिखायी पड़ रही हैं।[8] इसी नए आख्यान का एक मज़ेदार संस्करण फ़िल्म इंस्टीट्यूट के स्नातक कुंदन शाह की एक फ़िल्म में मिलता है। यह फ़िल्म सरकारी पैसे की मदद से चलाए जा

रहे अभिजात्य नया भारतीय सिनेमा आंदोलन की उपज थी। *जाने भी दो यारो* (1983) में शहरी ऊर्जाएँ मेलोड्रामा और मारधाड़ के ज़रिए नहीं बल्कि मज़ाकिया कटाक्षों और स्याह हास्य के ज़रिए प्रवाहित होती हैं। आपातकाल के बाद पत्रकारिता का एक नया ढर्रा शुरू हुआ था जिसके तहत खोजी पत्रकारों की एक पूरी खेप लाइसेंस और ठेकों के बँटवारे में सरकारी विभागों और उद्योग जगत की मिलीभगत और भ्रष्टाचार को उजागर कर रही थी। शाह की फ़िल्म इसी नई विकृति को संबोधित करती हुई उसे एक अंतहीन सिलसिले की तरह पेश करती है। शाह समकालीन स्कैंडलों की तरफ़ इशारा करते हुए अपने कथानक की रचना करते हैं। मगर उनकी यह दुनिया सिनेमा के इतिहास के संकेतों से भी अपना रूप ग्रहण करती है। यह एक तरह से आत्मालोचन है। यानी यह उसी खोजी प्रवृत्ति को भी संदेह से देखती है जिसका डंका उन दिनों बड़े ज़ोरों से पीटा जा रहा था। एक हास्यास्पद और बेतुके फ्रेम के रूप में शहर का व्यक्तित्व सत्य और न्याय के राष्ट्रवादी विमर्श को हाशिए पर सरका कर दर्शक को एक आत्म-परीक्षा में उलझा देता है।

आइए एक बार फिर अतिनाटक (मेलोड्रामा) की तरफ़ वापस चलें। शहर के भीतर स्थित घर का महफ़ूज़ दायरा एक शक्तिशाली प्रस्थानबिंदु है जहाँ से मूल्यों और अर्थों के स्थापित आशयों की पड़ताल शुरू की जा सकती है। इन सालों के लोकप्रिय घरेलू अतिनाटकों में एक विशिष्ट शब्दावली दिखाई देती है। छवियों और कथानक का डेटाबेस बच्चन को एक बार फिर हमारे सामने ला खड़ा करता है। इस बार वह प्रतिशोध और घरेलू मेलोड्रामा में मुब्तिला ताक़त के रूप में सामने आता है। *त्रिशूल* और घरेलू मेलोड्रामा, *कभी कभी* (यश चोपड़ा, 1976), दोनों में उसे विस्फोटों की पृष्ठभूमि में निरूपित किया गया है। दुनिया की एक आधुनिकतावादी पुनर्रचना में ध्वंस और निर्माण, निर्माण के लिए ध्वंस — ये सुस्थापित प्रतीक बन चुके हैं।[9] परंतु यहाँ यही आधुनिकतावादी प्रतीक बिखर जाता है, ध्वंस को सार्थकता की शृंखला से काटकर अलग कर दिया जाता है, उसकी रचनात्मक अंतर्वस्तु को सत्वहीन बना दिया जाता है।

कभी-कभी में यह रूपक घर की चारदीवारी में घुस आता है। अमित (बच्चन) ने यह दलील देते हुए पूजा (राखी) के लिए अपने प्यार का गला घोंट दिया था कि उनकी ख़ुशी नायिका के माता-पिता के कष्टों की बुनियाद पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। मगर उसका यह अभाव तमाम ज़िंदगी उसे सालता है। वयस्क जीवन, विवाह और पिता बनने के बाद भी न केवल यह अभाव उसे बार-बार कचोटता है बल्कि वह ख़ुद बार-बार उन सुनहरी यादों की शरण में चला जाता है। इस पूरे प्रसंग में निर्माण गतिविधियाँ एक रूपक का काम करती हैं। अमित एक बिल्डर है जबकि विजय — जिससे पूजा ने माँ-बाप की इच्छा के तहत शादी की है — एक वास्तुकार और इंटीरियर डिज़ाइनर है। बिल्डर होने के नाते अमित इमारतें खड़ी करने के लिए दिन-रात विस्फोटों की दुनिया में खोया रहता है। यह विस्फोटक दुनिया चाहत की क़ुर्बानी से उसके भीतर पैदा हुए आंतरिक ध्वंस का बाहरी रूपक है। मगर इमारत को एक डिज़ाइन की भी ज़रूरत होती है। उसे न केवल भीतरी एवं बाहरी संरचना और जगह के निर्धारण की दरकार होती है बल्कि उसमें रहन-सहन और अंतरंग रिहाइश के लिए एक ख़ास साज-सज्जा देने की भी ज़रूरत होती है। पारिवारिक माहौल में लौटने पर बच्चन इस तरह का डिज़ाइन मुहैया कराने के लिए नाकाफ़ी साबित होता है। मगर विजय ऐसा नहीं है। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि सार्वजनिक प्रतिशोध की फैंटेसी के विजयी व्यक्तित्व को चित्रित करने के लिए बच्चन आमतौर पर जिस नाम का प्रयोग करता है वह इस फ़िल्म में एक अन्य पात्र को दे दिया गया है। ज़ाहिर है क्योंकि बच्चन एक अभाव के अहसास से पीड़ित है इसलिए वह अपने परिवार के आंतरिक परिवेश में प्राण नहीं फूँक सकता। देह के विमर्श में एक बेजोड़ अभिनयात्मक प्रतिस्थापन इस बात को अभिव्यक्त करता है। अमित अंतर्मुखी है, अपनी दुनिया में खोया रहता है — सदा किसी सोच में डूबा हुआ। दूसरी तरफ़ विजय है जो बातूनी है, हाज़िर जवाब है, वर्तमान में जीता है — अतीत में झाँकना जिसे मंजूर नहीं है। अति के रूप में अभिव्यक्तिजनक ऊर्जा को प्रवाहित करने वाले शक्तिपुंज के रूप में, यहाँ मेलोड्रामा का दायरा अगली पीढ़ी तक फैल जाता है। विजय का बेटा विक्की (ऋषि कपूर) डिस्को धुनों पर थिरकने वाला युवक है जिसे अपनी रूमानी और यौन ऊर्जाओं को प्रवाहित करने के लिए एक निकास की यानी किसी के दिलकश साथ की ज़रूरत है अन्यथा उसके बेकाबू उद्वेग पीढ़ीगत पुनर्नवीकरण की संभावनाओं को अस्त-व्यस्त कर देंगे।[10]

यदि बच्चन की गहरी उदासी के रूप में यहाँ राष्ट्रवादी कल्पना में एक सुराख़ दिखाई देने लगता है जो प्रतिशोध के ऐसे दृश्यों में बार-बार उपस्थित हो जाता है जो उसको पहुँची क्षति की कभी भरपाई नहीं कर सकते तो वहीं दूसरी तरफ़ इसी भावना को व्यक्त करने के लिए बिल्कुल विपरीत पद्धतियाँ भी हैं। *तरंग* (कुमार शहानी, 1984) जैसी ग़ैर-मेलोड्रामाई फ़िल्म के कई हिस्सों में भी रोंगटे खड़े कर देने की ताक़त है। शहानी की फ़िल्म नए भारतीय सिनेमा की प्रायोगिक धारा से निकली थी। यह फ़िल्म अपने दौर के सामाजिक रूपान्तरण का विश्लेषण करती है। इसमें ट्रेड यूनियन आंदोलन के पतन और पूँजीवाद की राष्ट्रवादी एवं परमुखापेक्षी दृष्टियों के बीच एक संहारक संघर्ष दिखाई देता है। शहानी एक फ़ासले से कथानक को पेश करते हैं। वह फ़ैक्ट्री, घर और दफ़्तर का ताना-बाना बड़ी एहतियात से बुनते हैं और अलग-अलग पात्रों को बड़ी गंभीरता से उनमें खड़ा करते हैं। यहाँ वर्गीय सहअस्तित्व के परिदृश्य के ज़रिए परिधियों का पुनर्गठन दिखाई देता है। एक मज़दूर कार्यकर्ता की विधवा, जानकी (स्मिता पाटिल), को उद्योगपति सेठजी के घर में नौकरानी के काम पर रखा जाता है। फ़िल्म में अपने पिता और अपने पति राहुल (अमोल पालेकर) के बीच खींचतान में फँसी राहुल की भुतहा अस्तित्व की मालकिन पत्नी हंसा (कंवल गँढ़ियोक) एक अजीब निढालपन का शिकार दिखाई देती है। यहाँ करुणा की बजाय आध्यात्मिक दुर्बलता से निचुड़ी हुई देह दिखाई देती है, जो पूँजीपति वर्ग के भीतर पीढ़ियों के द्वंद्व का शिकार हो गई है। दुनिया की मुश्किलों पर विजय पाने की कोशिश करती जानकी के हालात को उकेरने के लिए शहानी महाकाव्यों की जटिल छवियों का भी सहारा लेते हैं। हंसा के विषय में तो उनका काम और भी यादगार है जो ओफ़ेलिया की सी हैसियत तो प्राप्त कर लेती है मगर वह एक ऐसी ओफ़ेलिया है जो नाटकीय अधीनता की बजाय अलगाव की ज़िंदगी गुज़ारने का फ़ैसला लेती है। यह पात्र शहानी की व्यापक नृत्यरचना में एक छोर से दूसरे छोर तक घूमता दिखाई देता है। उसके ज़रिए एक ख़ास दुनिया की भीतरी जोड़-तोड़, लोगों की यौन प्रवृत्तियों और व्यावसायिक उठा-पटक की झलकियाँ दिखाई देती हैं। यह किरदार एक तरह से पूरे परिदृश्य में घूमता है जिसमें ब्रेसोनुमा नृत्यरचना की अनुगूँज और रचनात्मक पुनर्कल्पनाएँ दिखाई देती हैं।[11]

हमारा हिंसक दौर: परिवेश में देह का रूपविधान

समकालीन सिनेमा की दुनिया में निर्मित परिवेश और घर-गृहस्थी जमाने की जद्दोजहद का वृत्तांत एक स्थायी प्रतीक के रूप में सामने आता है। एक ऐसा शहर जहाँ राज्य सामाजिक न्याय का निष्पक्ष नियामक नहीं है, वहाँ सिर छिपाने की एक जगह, एक अदद घर का सवाल बड़ा सवाल बन जाता है। स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी आंदोलन की एक प्रख्यात फ़िल्म, आनंद पटवर्धन की *हमारा शहर* (1985) इसी सवाल पर केंद्रित है। यह आंदोलन सरकारी तंत्र के तहत चलने वाले फ़िल्म्स डिवीज़न के दायरे से बाहर और फलस्वरूप स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में आया था। आपातकाल के बाद इस आंदोलन ने पटवर्धन की ही *प्रिज़नर्स ऑफ़ कॉन्शेन्स* (1978)[12] जैसी फ़िल्मों के साथ ख़ासा ज़ोर पकड़ा। *हमारा शहर* में पटवर्धन ने फ़ुटपाथ पर रहने वालों के हालात के चित्रण में बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। स्क्रीन से परे के वृत्तांत को सामने लाने के लिए वह ख़ुद इन फ़ुटपाथियों की आवाज़ों का सहारा लिया। फ़िल्म में एक आवाज़ तैरती रहती है और कैमरा जगह-जगह घूमता रहता है। पटवर्धन उस आवाज़ को किसी ख़ास व्यक्ति से जोड़ने में ख़ासा समय लेते हैं। इस वृत्तचित्र में निर्देशक की मौजूदगी बहुत सीमित है। यहाँ निर्देशक केवल इसी बात को ज़्यादा मुखर तौर पर रेखांकित करता है कि इस तरह के कार्यकर्ता क़िस्म के वृत्तचित्रों के बारे में मज़दूर वर्ग संशय से ग्रस्त है। परंतु अगर कहीं निर्देशक का अपना एक झुकाव दिखाई देता है तो वह इस बात में है कि उसने फ़िल्म को राजनीतिक रूप से एक स्पष्ट कथानक में बाँधा है। फ़िल्म में अपने आरामदेह बंगलों, महँगे फ़्लैटों, नगर पालिका दफ़्तर, नागरिक एवं फ़्लैट मालिकों की बैठकों के ज़रिए अभिजात्य वर्ग की दुनिया की एक स्पष्ट तस्वीर खींची गई है। निर्देशक इन दोनों दुनियाओं के बीच के तीखे भेद को उजागर करता है। इसके लिए उसने एक नज़रिया विकसित करने के लिए स्पष्ट रूपकों की बजाय हालात की कोख से पैदा होने वाली अतिनाटकीय विडंबनाओं का सहारा लिया है।

यदि स्वतंत्र वृत्तचित्र इस कल्पना की परिधि में काम करता है कि राज्य अब सामाजिक न्याय का वाहक और स्रोत नहीं रहा है तो दूसरी तरफ़ मुझे ऐसा भी लगता है कि बदलते परिदृश्य के कुछ ख़ास आयाम इस आंदोलन

के एजेंडा का हिस्सा नहीं बन पा रहे थे। खोजी पत्रकारिता ने आमतौर पर राज्य और औद्योगिक भ्रष्टाचार को ही अपना मुख्य विषय बनाया मगर न तो वृत्तचित्र बनाने वालों ने और न ही पत्र-पत्रिकाओं और अख़बारों ने दैनिक ज़िंदगी और सबॉल्टर्न अपराध की दुनिया की जाँच करना ज़रूरी समझा, जबकि यह घटनाक्रम शहरी यथार्थ और शहर की छवि का एक महत्वपूर्ण पहलू बन चुका था। कला सिनेमा ने भी कुल मिलाकर इस विषय को हाशिए पर ही रखा। गोविंद निहलानी की फ़िल्मों – *अर्धसत्य* (1983) और *आघात* (1985) – को इसका अपवाद माना जा सकता है। पचास के दशक से ही लोकप्रिय मुंबइया सिनेमा में अपराध एक केंद्रीय विधा और शहरी निरूपण एवं अनुभव का एक मुख्य साधन रहा है। शुरुआती दौर में आपराधिकता के सहारे सामाजिक अन्याय को नाटकीय रूप देने की कोशिश की जाती थी और वह अवैधता व सामाजिक बेदख़ली के हालात का एक रूपकात्मक वृत्तांत बनता था। जबकि सत्तर के दशक के मध्य से समकालीन सिनेमा अपराध का एक बिल्कुल भिन्न प्रतीकात्मक वृत्तांत अपनाने लगता है। मेरे ख़याल में *हमारा शहर* और उसी दौर के लोकप्रिय सिनेमा, मिसाल के तौर पर *अंकुश*, को एक दूसरे के साथ रखने पर चीज़ों को ज़्यादा साफ़-साफ़ समझा जा सकता है। एन. चंद्रा की *अंकुश* भी उसी साल रिलीज़ हुई जिस साल *हमारा शहर*। संभव है कि शहर के हाशिये पर, सड़कों पर बीतने वाली ज़िंदगी, जिसका पटवर्धन की फ़िल्म में निरूपण किया गया है, छोटे-मोटे अपराधों की दुनिया की ओर आकृष्ट हो सकती है। मगर वृत्तचित्र वाली विधा में इस पहलू को नहीं उठाया गया। ऐसा शायद इसलिए है कि इससे न केवल अन्याय के कार्यकर्ता-आधारित नज़रिए की धार कमज़ोर पड़ जाती है बल्कि इस बात को उठाना शायद ज़्यादा मुश्किल भी है।

आइए एक बार फिर बच्चन की शख़्सियत की तरफ़ लौटें। उसके किरदार एक यथार्थवादी परिवेश से उपजते हैं और वे प्रतिनिधि पात्र भी हैं। मसलन, एक ऐसे मज़दूर की छवि जिसके पास शोषकों से दो-दो हाथ करने और अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का नैतिक और शारीरिक साहस है। *दीवार* जैसी फ़िल्मों में वह प्रतिनिधित्व के भार से बच निकलने के लिए ऐसा करता है। जहाँ ट्रेड यूनियन आंदोलन लगातार ख़त्म होता जा रहा है (*दीवार* में बच्चन के पिता की नियति के ज़रिए इस हक़ीक़त को उजागर किया गया है), वहाँ फ़िल्म एक तरह से इस ऐतिहासिक बदलाव की भविष्यवाणी करती सी दिखाई देती है और नायक को धीरे-धीरे अपराध व दौलत की ग़ैरक़ानूनी दुनिया में पहुँचा देती है हालाँकि नायक ये सारे काम अपनी माँ के नाम पर ही अंजाम देता है। नतीजतन, इस तरह की कृतियाँ न केवल सामाजिक न्याय के वाहक के तौर पर राज्य को अवैध ठहराने, बल्कि नागर और राजनैतिक की सीमा पर काम करने वाले ट्रेड यूनियन जैसे आलोचनात्मक नुमाइंदा संस्थानों के विमर्श में उलझी हुई भी दिखाई देने लगती हैं।

अस्सी के दशक के मध्य से परिदृश्य नए सिरे से परिभाषित होता है। सामाजिक विषयनिष्ठता और शहरी अस्तित्व की नई दृष्टियों को वृत्तांत का विषय बनाया जाता है और कई तरह की राजनीतिक संभावनाओं के संकेत मिलते हैं। यहाँ इस आशय का तर्क आकार लेता दिखाई देता है कि अब तक की सहमति को उधेड़ने वाली हिंसक संभावनाएँ अब हाशिये पर ढकेल दिए गए वर्गीय द्वंद्व और वर्गीय असंतोष के रूप में अभिव्यक्त नहीं होंगी। यहाँ एन. चंद्रा की *अंकुश* और *तेज़ाब* (1987) जैसी कृतियाँ अच्छी मिसालें हैं। *अंकुश* मुख्यधारा की फ़िल्म नहीं थी। उसका अपना एक वृत्तचित्रनुमा यथार्थ था। इस फ़िल्म में सड़क के नुक्कड़, मोहल्ले और बाज़ार का बड़ा वास्तविक निरूपण किया गया है। इस फ़िल्म से सिनेमाई शहर को अस्तित्व में लाने की एक नई भाषा सामने आती है। बाद में इन स्थानों को स्टूडियो के सेट्स पर ज़्यादा बारीकी से गढ़ा जाने लगा मगर इस फ़िल्म में लोकेशन शूटिंग के सहारे रचा गया यथार्थवादी माहौल देखने लायक है। यह यथार्थवाद नुक्कड़ पर इकट्ठा होने वाले नौजवानों के चरित्र चित्रण में भी साफ़ दिखाई देता है। इस फ़िल्म में हमें समय का एक विच्छिन्न या ठहर गया सा रूप मिलता है। फ़िल्म में निरूपित हर दिन एक जैसा लगता है। इस फ़िल्म में बेरोज़गारी के साथ-साथ उस कड़वाहट के भी दर्शन होते हैं जो इस फ़िल्म को उसका एक ख़ास राजनीतिक रुझान मुहैया कराती है। यह फ़िल्म मुंबई के कपड़ा उद्योग की विशाल हड़ताल के विफल हो जाने और क्रमशः शहर के कपड़ा उद्योग के छितरा जाने के बाद बनी थी। फ़िल्म के चारों मुख्य पात्र इन बदले हुए हालात को तो उजागर करते ही हैं साथ

ही एक ज़्यादा व्यापक परिस्थिति की तरफ़ भी इशारा करते हैं। इस सामान्य स्थिति का आशय शिक्षित बेरोज़गारों की उस दुनिया से है जो ख़ुद को भ्रष्ट समाज की अपेक्षाओं के हिसाब से ढाल पाने में नाकामयाब हो गए हैं।

फ़िल्म में जिस सामाजिक पृष्ठभूमि को दर्शाया गया है वह वही है जिसे महाराष्ट्र की धार्मिक कट्टरतावादी पार्टी शिवसेना का अखाड़ा माना जाता है। यह पार्टी बाद में हिंदू बहुलवादी राजनीति के देशव्यापी जमावड़े का एक अहम हिस्सा बनी।[13] फ़िल्म में बेरोज़गार युवकों के समूह को अपनी हैसियत पर हमला होता दिखाई देता है, वह पराजित व आहत हैं और अन्यायपूर्ण सामाजिक अपमान का यह अहसास उन्हें तल्ख़ियों से भर देता है। यहाँ सार्वजनिक दावेदारी का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है और वह फ़िल्म के शुरुआती दृश्य में गणेश चतुर्थी जुलूस के लिए सड़क पर क़ब्ज़े के वास्ते गिरोहों की लड़ाई के रूप में दिखाई देता है। गणेश पूजा के उत्सव राष्ट्रवादी नेता तिलक के ही ज़माने से सार्वजनिक नागर जीवन में अहमन्यवादी हिंदू राजनीति की राजनीतिक गोलबंदी का एक महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं।

ये बातें इस निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं कि यह फ़िल्म शिवसेना के प्रचार अभियान का साधन जैसी लगती है।[14] अपनी सामाजिक बुनावट में यह फ़िल्म उन राष्ट्रीय टकरावों का पूर्वाभास देती है जो कुछ साल बाद सामने आए। 1989 में केंद्र की अल्पसंख्यक सरकार के प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने ऐतिहासिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों में आरक्षण से संबंधित मंडल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने का फ़ैसला लिया। समाज के अभिजात्य तबक़े को लगा कि इस तरह की नीतियाँ मेरिट का महत्व नष्ट कर देंगी और उन्नति के रास्ते पर देश का सफ़र अवरुद्ध हो जाएगा। और भी जटिल बात यह थी कि उच्च जाति, निम्न मध्यवर्गीय आबादी ने इन नीतियों पर भारी हताशा व बेचैनी का इज़हार किया और बाज़ युवकों ने अपनी जान तक दे दी। निस्संदेह, यह आख़िरी परिदृश्य *अंकुश* की कल्पना के दायरे में नहीं था। यह फ़िल्म सुनियोजित मर्दाना दुस्साहस के सहारे आगे बढ़ती है। फ़िल्म के नायक व्यवसायियों के एक भ्रष्ट झुंड को ख़त्म करने की कोशिश करते हैं और एक सामाजिक उद्देश्य के लिए शहीद होने वालों की तरह अपने अपराध और सार्वजनिक मृत्युदंड को स्वीकार कर लेते हैं।

सिनेमा में मुंबई की तस्वीर को गढ़ने वाली नई भाषा रचने के लिहाज़ से इस फ़िल्म की अहमियत को कम करके नहीं आँका जा सकता। गणेश चतुर्थी से लेकर मोहल्ले, नुक्कड़ और बाज़ार तक होते हुए चंद्रा *तेज़ाब* में रेल की पटरियों और शहर की परिधि पर बनी झोपड़पट्टियों तक जा पहुँचते हैं। *तेज़ाब* (1987) व्यावसायिक दृष्टि से बेहद सफल फ़िल्म थी। यह फ़िल्म मुंबई शहर के भीतरी/बाहरी वाले तर्क को परिभाषित करती है। इस फ़िल्म के नायक मध्यवर्गीय मुन्ना की आँखों में भी उस वक़्त बड़े ख़ुशनुमा ख़्वाब होते थे जब वह नौसेना में कैडेट था। यह देशभक्त युवक विभिन्न ताक़तों की चालबाज़ियों के कारण और पुलिस व न्यायालय की विफलता के चलते बुरे हालात में फँस जाता है। रामायण के राम की तरह मुन्ना को भी अन्यायपूर्वक शहर से जलावतन कर दिया जाता है। और वह बाक़ायदा अपराधी बन जाता है। कहानी के अंत में वह रामायण की ही तरह अपनी प्रेमिका को बचाने के वायदे को पूरा करके शहर में वापस लौट आता है। यह काम वह एक मुस्लिम अपराधी, लोटिया पठान, के चंगुल से अपनी प्रेमिका को आज़ाद करके कराता है। यह फ़िल्म देशभक्ति की निराश भावना के इतिहास और शहर से जलावतनी और वापसी के ज़रिए प्रतीकात्मक पूंजी को एक बार फिर अर्जित करने की कोशिश करती है और इस क्रम में राष्ट्र के मिथकीय पुनर्नवीकरण के नए सामाजिक मानदंड भी निर्धारित करती है।

संभावनाएँ महज़ यही नहीं थीं — इस बात को उसी दौर की दो दूसरी फ़िल्मों ने भी बताने की कोशिश की। *नायकन* (मणिरत्नम, 1987)[15] और *परिन्दा* (विधु विनोद चोपड़ा, 1988)[16] का रास्ता कुछ और है। *दीवार* में हाजी मस्तान के कॅरियर की एक झलक दिखाई देती है, जिसे उस ज़माने में मुंबई का 'गॉडफ़ादर' माना जाने लगा था। हालाँकि *दीवार* में इस तरह के मुद्दों का कोई संदर्भ दिखाई नहीं देता मगर *नायकन* अपने नायक वेलु नायकन के ज़रिए तमिल माफ़िया सरगना वरदराजन मुदालियर के निरूपण के सहारे अपराधियों की संरक्षणवादी वैधता की ज़रूरत को रेखांकित करती है। शहर के बारे में इस कथानक को उभरती शिवसेना द्वारा प्रचारित — 'धरती के लाल' (sons of the soil) वाले सिद्धांत के बरक्स पढ़ा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि शिवसेना ने सबसे पहले तमिलनाडु और केरल के प्रवासियों को ही निशाना बनाया था। महानगर की तमिल झोपड़पट्टियों

के बीच अपनी कहानी बुनने के लिए इस फ़िल्म में कपोला की *द गॉडफादर* (1972) को आधार बनाया गया है। इन झोपड़पट्टियों में रहने वाले तमिल ग़रीबी और जातीय अधीनता -- दोनों तरह से हाशिये पर दिखाई देते हैं। *अंकुश* में झोपड़पट्टियों के हिंसक मोहल्लों को जिस तरह दिखाया गया था, यहाँ उन्हीं झोपड़पट्टियों को एक अलग अंदाज़ में पेश किया जाता है। फ़िल्म में कमल हासन मार्लिन ब्रैंडो, अल पचीनो और संभवतः लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच चुके तमिल स्टार शिवाजी गणेशन के अभिनय का एक दुस्साहसिक समावेश प्रस्तुत करते हैं।[17] संयमी, धोतीधारी नेता की यह छवि तमिल राजनीति के काफ़ी नज़दीक दिखाई देती है। फ़िल्म के कला निदेशक थोट्टा थराणी और कैमरामैन पी. सी. श्रीराम ने नायकर के घर की जो तस्वीर खींची है उसमें भी राजनीतिक ध्वनियाँ मानूद हैं। डॉन विटो कॉर्लियॉन की विषाद भरी अंदरूनी दुनिया की बजाय नायकर का घर ख़ासा रोशन है और उसकी चारदीवारी इस तमिल सरगना (नायकर) के सामने हाथ फैलाने वालों और उसके बीच के फ़ासले को इंगित करती है। फ़िल्म के वास्तु-सँयोजन में राजनीतिक दरबार व अदालती माहौल के संकेत मिलते हैं। पूरी फ़िल्म बड़ी बारीकी के साथ अपराध से राजनीति की दुनिया तक चली जाती है और न केवल दोनों के बीच निहित संबंधों की तरफ़ संकेत करती है बल्कि उस अलंकारिक संरचना को भी सामने लाती है जिसके ज़रिए नेता की छवि के इर्द-गिर्द ये दोनों परिधियाँ आपस में गुँथती हैं।

सिनेमा की धुरी के ज़रिए राजनीति और अपराध की परिधियों के बीच यहाँ जटिल उलझाव दिखाई देता है और इसके लिए ऐसे रास्ते अपनाए गए हैं जो उसी दौर में एन. चंद्रा द्वारा बनाई गई फ़िल्मों की तुलना में झोपड़पट्टी/अपराध/सियासत की नई शब्दावली को एक भिन्न दिशा प्रदान कर देते हैं। मगर यहाँ समकालीन की पुनर्कल्पना में एक शक्तिशाली अंतःसिनेमाई विमर्श भी कार्यरत है। यदि *नायकन* एन. चंद्रा की फ़िल्म का प्रत्युत्तर देती है तो दूसरी तरफ़ विनोद चोपड़ा की *परिन्दा* तमिल सरगना को उसकी राजनीतिक उपादेयता या प्रसंग से काटकर एक मनोरोगी द्विधाग्रस्त खलनायक अन्ना (नाना पाटेकर) के रूप में निरूपित करती है। एक विधा के रूप में यह मुंबई के सबॉल्टर्न जीवन के जातीय वृत्तांत का अराजनीतिकरण नहीं है बल्कि यह अपराध जगत के अंतर्जातीय आयामों का एक यथार्थवादी ब्यौरा है। जैसा कि इरा भास्कर ने कहा है, अब इस विधा में गॉथिक तत्व बड़े शक्तिशाली ढंग से उभरने लगे हैं।[18] मुंबई रात का शहर है जहाँ बीच-बीच में बेनाम भीड़ दिखाई देती है या अचानक फूट पड़ने वाली हिंसा के लिए एक खुला कैनवास पसरा हुआ है। यह एक ऐसा शहर है जहाँ व्यक्ति हमेशा घात लगाए बैठे एक ऐसे नेटवर्क की भेदती नज़रों से कभी भी बहुत दूर नहीं रहता जो अदालतों, धार्मिक स्थानों और घर तक भी अपनी घुसपैठ बनाए हुए है। अन्ना की फ़ैक्ट्रियों, शहर की दबी-छिपी दुनिया का चेहरा सामने आने पर यह गॉथिक आयाम ख़ासतौर से उभर कर आते हैं। अन्ना की फ़ैक्ट्रियों में कहने को तो तेल की मिलें चलती हैं मगर असल में वहाँ नशीली दवाइयाँ बनाई जाती हैं। एक तरह से यह मौत के उत्पादन की हमारे सामने उपलब्ध एकमात्र डिस-असेंबली लाईन है। यहाँ स्टील के शिकंजों, औद्योगिक मिक्सरों और और ढलवाँ नालियों में अन्ना के विरोधियों और विश्वासघातियों की लाशें ठिकाने लगाई जाती हैं।

इस नेटवर्क की घर तक घुसपैठ बाद में एक अहम सूत्र बनती है मगर *परिन्दा* में उसका इस्तेमाल एक ख़ास विधागत पड़ताल के उद्देश्य से ही किया गया है। जैसा कि रंजनी मजुमदार ने दर्शाया है, अपराधियों के गठजोड़ से आज़ाद होने की कोशिश करते प्रेमी-युगल के अपेक्षित मिलन में बार-बार बाधा पड़ती है। बार-बार बजने वाली टेलीफ़ोन की घंटी और अचानक बिजली गुल हो जाने जैसी घटनाओं से घर की नीरवता और शांति बार-बार टूटने लगती है।[19] फ़िल्म नोआर (Noir) और गॉथिक तत्व उस समय के मुंबइया सिनेमा में इफ़रात में मौजूद रूमानी क़िस्से-कहानियों की शृंखला को अस्थिर करने का काम करते हैं।

दिलचस्प बात यह है कि मुंबई शहर की चेतना के मानचित्र में आ रहे इन बदलावों को कला सिनेमा के मुक़ाबले लोकप्रिय सिनेमा ने कहीं ज़्यादा शक्तिशाली ढंग से पकड़ा है। यद्यपि गोविंद निहलानी की फ़िल्म में क़ानून और आपराधिकता के बीच निहित जटिल रिश्तों को संबोधित किया गया है मगर समांतर सिनेमा के गठन में उपदेश का आग्रह बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। यह बात सईद अख़्तर मिर्ज़ा की रचनाओं में सबसे साफ़ दिखाई देती है

जिन्होंने *अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है* (1980), *मोहन जोशी हाज़िर हो* (1983) और *सलीम लंगड़े पे मत रो* (1989) जैसी फ़िल्मों के ज़रिए जातीय सबॉल्टर्न और हाशियाई अस्तित्व के विभिन्न तबक़ों पर फ़िल्मों की एक शृंखला बनाई थी। लोकप्रिय सिनेमा की ज़्यादा ताक़त इस विखंडित परिदृश्य से बचकर निकल जाने और शहर के नज़ारों, उसके हिंसक भू-दृश्य और निम्नवर्गीय अनुभवों के चित्रण में भी दिखाई देती है जिन्हें इस तरह के विमर्श में आसानी से जगह नहीं मिल सकती। राष्ट्रवाद के विकासवादी स्वप्न पट पर दरार को दिखाने के लिए हताशा और हिंसा की नई अनुभूतियों को रेखांकित किया गया है। कुछ लोगों का मानना है कि ये कृतियाँ ब्रेख़्तियन शैली से प्रभावित थीं। बहरहाल, इनमें अलख जगाने वाली एक ऐसी भाषा का इस्तेमाल किया गया है जो यथार्थवादी कला सिनेमा और उस ज़माने की वृत्तचित्र फ़िल्मों के उद्देश्यों के ज़्यादा अनुरूप दिखाई पड़ती है। यह भाषा तर्कसंगत निरूपण तथा संचार और बहस के एक नागर-सामाजिक विमर्श को मज़बूती देती है। यहाँ शहरी अपराध का एक ऐसा व्याकरण जन्म लेता है जो नाना अनुभवों-सबॉल्टर्न ज़िंदगी के विकृत रूपों से लेकर शहरी अर्थों को उदघाटित करते नए स्थानों और ख़ुद सिनेमा को शहरी तजुर्बे का तरीक़ा मानने तक सब कुछ है। उसमें (अति) राष्ट्रवादी भावनाओं के पुनर्गठन करने की संभावनाएँ भी खुलती हैं और सामाजिक को सामाजिक के रूप में देखने के लिए उसके विखंडनवादी फ्रेम से बचकर निकलने का रास्ता भी मिलता है। कला सिनेमा में तुलना में इस तरह का विशद प्रतिचित्रण राजनीती के हिसाब से किसी भी दिशा में जा सकता था। जरूरी नहीं कि इनमें स्पष्ट विचारधारात्मक या राजनीतिक आग्रह हो।

हिंसा के स्रोतों की शिनाख़्त

समकालीन हिंसा के स्रोतों की पड़ताल के लिए पिछले दशक की एक बेहद लोकप्रिय फ़िल्म हमें शहर की परिधि से बाहर, गाँव-देहात की दुनिया में ले जाती है। गुलज़ार द्वारा निर्देशित *माचिस* (1994) अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध में सिक्ख उग्रवाद को कुचलने के लिए बेतहाशा हिंसा और आतंक का सहारा लेने के लिए राज्य को आड़े हाथों लेती है जिसने न जाने कितने नौजवानों को मनमाने ढंग से यातना का शिकार बनाया। इस फ़िल्म में गुलज़ार लोकप्रिय, मध्यवर्गीय और समांतर सिनेमा के चौराहे पर खड़े दिखाई देते हैं। यह बात कहानी में निहित यथार्थवादी कार्यकारण संबंधों, अख़बारों से ली गई नागरिक अधिकारीवादी रिपोर्टों और कथानक में बिल्कुल सटीक जड़े हुए गानों से साफ़ दिखाई देती है। फ़िल्म के गाने उन युवाओं के गहरे नॉस्टैल्जिक संबंधों को उजागर करते हैं जो राज्यतंत्र की मनमानी हिंसा और आतंकवाद के चलते ख़ुद बदले की भावना के साथ उग्रवाद की दुनिया में पहुँच गए हैं। अब तक जिस हिंसा को शहरी ज़िंदगी के साथ जोड़कर देखा जाता था, यहाँ उसे पंजाब के देहातों पर छाई ख़ामोशी के सामाजिक यथार्थ में पकड़ने की कोशिश की गई है। गुलज़ार की नज़र दर्शक को उग्रवादियों से दूर मगर अन्याय के शिकार मासूमों के साथ खड़ा कर देती है। और इसमें एक मेलोड्रामाई एवं मिथकीय संरचना के ज़रिए सती-सावित्री के मिथक का भी बख़ूबी सहारा लिया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि समकालीन बदलावों की हिंसक प्रतिध्वनियों की जड़ में शहर के गहन रूपांतरण से लेकर राष्ट्र राज्य और जातीय आंदोलनों तक के एक जटिल समुच्चय का हाथ रहा है, मगर इसके बावजूद समकालीन बदलावों के हिंसक स्वरूप को एक ऐतिहासिक रूप से नई शक्ल प्रदान करने में हिंदू बहुलवादी कट्टरता के आंदोलन ने सबसे बड़ी व निर्णायक भूमिका निभाई है। अस्सी के दशक के मध्य से इस आंदोलन को ख़ासी स्वीकार्यता मिलने लगी थी। 1988 के चुनावों में इस आंदोलन की संसदीय शाखा ने एक शक्तिशाली राजनीतिक उपस्थिति दर्ज कराई। यही वह समय था जब इस ख़ेमे के नेता एल.के. आडवाणी ने रथयात्राओं के मिथकीय प्रतीक का सहारा लेते हुए कई सार्वजनिक जलसे-जुलूसों के ज़रिए हिंसक परिस्थितियों को जन्म दिया। हिंदू दक्षिणपंथी ताक़तों की संसदीय और ग़ैर-संसदीय रणनीतियों से कल्पित हिंदू पहचान की रचना के इर्द-गिर्द उग्रवादी माहौल बनाए रखने में मदद मिली। यह मुहिम आख़िरकार दिसंबर 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस में परिणत हुई। इसके फ़ौरन बाद देश के कई स्थानों पर बड़े पैमाने पर दंगे हुए जिनमें जनवरी 1993 में मुंबई में मुसलमानों के सामुदायिक सफ़ाये जैसी घटनाएँ भी शामिल हैं।[20]

स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी आंदोलन ने जल्दी ही इन बदलावों की भी गहरी पड़ताल शुरू कर दी। पटवर्धन ने *राम*

के नाम (1992) में हिंदुत्व आंदोलन पर बाक़ायदा शोध पेश किया। फ़िल्म में इस आंदोलन के ऐतिहासिक दावों को उसके प्रतिद्वंद्वी वक़्तव्यों के सामने रख कर निष्कर्ष दिया गया कि 1989 में मंडल आयोग के क्रियान्वयन से पैदा हुए लोकतांत्रिक स्पंदनों को नष्ट करने के लिए इस आंदोलन ने ऊँची जातियों की गोलबंदी का सहारा लिया है। मधुश्री दत्ता की डॉक्युमेंटरी *आई लिव इन बहरामपाड़ा* (1993) में लोगों के बयानों के सहारे मुंबई की एक बस्ती पर हुए हमलों की एक बड़ी सजीव और यथार्थपरक तस्वीर खींची गई। उसी समय कला सिनेमा की धारा ने सईद मिर्ज़ा की *नसीम* (1995) के रूप में हाल के सालों की अपनी सबसे बेहतरीन कृति पेश की। अपने उपदेशक मिज़ाज को मिर्ज़ा ने इस फ़िल्म में भी क़ायम रखा। यहाँ वह मुस्लिम समुदाय की महिला विरोधी छवि को तोड़ने के लिए लड़कियों की शिक्षा के आदर्श का सहारा लेते हैं। मुसलमानों की यह छवि हिंदुत्ववादी विचारधारा के ख़ाके में काफ़ी महत्वपूर्ण रही है। मगर इस फ़िल्म की उल्लेखनीयता सिर्फ़ इसी बात में नहीं थी। यह फ़िल्म प्रसिद्ध वामपंथी शायर और गीतकार कैफ़ी आज़मी के किरदार के ज़रिए बीते ज़माने के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग को भी बड़े व्यवस्थित ढंग से रेखांकित करती है। इस किरदार की मौत के साथ अलग-अलग समुदायों के बीच सौहार्द के धर्मनिरपेक्ष सपने पर मंडरा रहे ख़तरे के गहराने का अहसास पैदा होता है, जो मस्जिद के ध्वंस के बाद सचमुच सामने आया।

राष्ट्रवाद के बदलते चेहरे से संबंधित शक्तिशाली और संवेदनशील आपबीतियाँ, उसके आक्रामक रूपांतरण से जिन इतिहासों और अनुभवों को चुनौती दी गई और जिन्हें दबाया गया — ये फ़िल्में समकालीन को आकार देने वाले चिंतन का अभिन्न हिस्सा हैं। लोकप्रिय शैली की फ़िल्में इस तरह के संवेगों पर हमेशा की तरह तुलनात्मक रूप से ज़्यादा संदिग्ध प्रतिक्रियाएँ देती हैं। *बाज़ीगर* (अब्बास मस्तान, 1993), *डर* (यश चोपड़ा, 1994) और *गर्दिश* (प्रियदर्शन, 1992) जैसी फ़िल्में राजनीतिक बदलावों को अपने किरदारों की अस्पष्ट प्रेरणाओं, दर्शकों की पहचान के विखंडन और कथानक की अस्त-व्यवस्त बुनावट के ज़रिए सामने लाती हैं। ये फ़िल्में एक अनिश्चित पहचान और अनजान ख़तरे की दुनिया के रूप में शहर की एक ख़ास तस्वीर सामने लाती हैं। एक छोर पर ये फ़िल्में पहचान के बारे में सवाल खड़ा करती हैं — हम किसी को कितनी अच्छी तरह जानते हैं, फ़लाँ व्यक्ति कहाँ से आया है — और इस बात का अहसास कराती हैं कि यह अनिश्चितता ही शहर को एक अस्थिर, यहाँ तक कि एक दहशतनाक दुनिया में भी तब्दील कर सकती है। मगर दूसरी तरफ़ ये फ़िल्में किसी को सामाजिक एवं राजनीतिक वैधता की परिधि में शामिल करने या उसे बहिष्कृत करने के लिए पहचान के दावों के इस्तेमाल की कोशिशों से पैदा होने वाली दहशत को भी सामने लाती हैं। *माचिस* के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि निर्दोष इन्सानों को उग्रवादी साबित करने और उन्हें हिंसा का निशाना बनाने में किस तरह स्वयं राज्य ही सबसे बड़ा अपराधी बन जाता है। महेश भट्ट की फ़िल्म *ज़ख़्म* (1999) एक वर्चस्वशाली, राजनीति प्रेरित हिंदू पहचान की सुरक्षा, बल्कि उसके गर्व की पड़ताल करती है और पहचान के उसके दावों को ऐतिहासिक घटनाक्रम के आइने में देखने की कोशिश करती है। इस फ़िल्म में वह अपने पसंदीदा विषय — नाजायज़ औलाद — की पड़ताल मुंबई दंगों में मारी गई एक औरत के ज़रिए करते हैं। उस औरत का हत्यारा एक मुस्लिम युवक है जो जनवरी 1993 में हिंदू दक्षिणपंथी ताक़तों द्वारा अपने समुदाय पर किए गए बेतहाशा हमलों से गुस्साया हुआ है। मगर सच्चाई यह है कि उसने भी किसी हिंदू को नहीं बल्कि एक मुस्लिम औरत को ही मारा है। और इस घटना के ज़रिए भट्ट इस दमित पहचान के इतिहास और मृत महिला के बच्चों पर उसके प्रभावों की पड़ताल करते हैं। इसी तरह की एक और ऐतिहासिक फ़िल्म, यश चोपड़ा की *धर्मपुत्र* (1961) में भी एक बच्चा इस मान्यता के साथ बड़ा होता है कि वह हिंदू है। वह मुसलमानों के प्रति भयानक घृणा में जुनूनी हो जाता है। जब उसे पता चलता है कि उसके असली माँ-बाप कौन हैं तो उसकी जुनूनी हरकतों पर एक विध्वंसक विराम लग जाता है। 1983 की अपनी फ़िल्म *सारांश* की तरह यहाँ भी भट्ट ने आग, एक जली हुई कार, यहाँ-वहाँ बिखरे नौजवानों के समूह — इन थोड़ी-सी चीज़ों के सहारे ही शहरी हिंसा को पकड़ने की कोशिश की है। हिंदू-मुस्लिम सौहार्द के ख़ुशनुमा अतीत की याद दिलाने के लिए वह फ़्लैशबैक का सहारा लेते हैं। यहाँ उन्होंने बड़ी रचनात्मकता का परिचय दिया है, ख़ासतौर से उस दृश्य में, जहाँ बच्चे अपने फ़िल्मकार पिता के स्टूडियो में जा धमकते हैं। जब बच्चे स्टूडियो में पहुँचते हैं तो वहाँ एक धार्मिक फ़िल्म की शूटिंग हो रही है और विशालकाय

हनुमान अचानक उनके सामने आ खड़ा होता है। समकालीन हिंदुत्ववादी गोलबंदी के बाद ख़तरनाक छवि अख़्तियार कर लेने वाला यह वानर देवता यहाँ एक हँसोड़ पात्र के रूप में सामने आता है। यह दृश्य अपने धार्मिक प्रतीकों के साथ हमारे सहज मासूम संबंध और विनोदी भरे रवैये की यादें ताज़ा कर देता है।

माचिस और *ज़ख़्म* जैसी फ़िल्मों में लोकप्रिय सिनेमा एक क़दम पीछे हटकर हमारे हिंसक इतिहास और उसे जन्म देने वाले पहचान के टकरावों पर एक ज़्यादा शांत और संयत नज़रिये की संभावनाएँ पेश करता है। दूसरी तरफ़, नागर समाज की परिधि को विस्तार देने की कोशिश में लगी जनपक्षधर स्वतंत्र डॉक्युमेंटरी फ़िल्में ज़्यादा जटिल और खोजी रवैये की तरफ़ बढ़ने लगती हैं। यहाँ सतह पर दिखने वाली घटनाओं की बजाय उनकी अंतरंग परतों और आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ डॉक्युमेंटरी विधा और उसकी विशिष्ट विषयवस्तु का एक समृद्ध रूप सामने आता है।

हिंसा के इतिहास से हमारा संबंध किन चीज़ों से बनता है? दर्शकों और दृश्य-श्रव्य सामग्री के बीच, फ़िल्मकार और उसके विषय के बीच, किसी पात्र, वर्तमान अनुभव और ऐतिहासिक स्मृति के बीच इस संबंध की पड़ताल कैसे की जाए? एक ऐसे फ़लक, परिधि, नज़रिये को कैसे पकड़ा जाए जो हिंसा के बारे में बात तो कर सकता है मगर एक ऐसे तरीक़े से, जिससे दर्शक उस दृश्य से कटा हुआ न महसूस करे? *ए सीज़न आउटसाइड* (1998) में फ़िल्मकार अमर कँवर की पार्श्व ध्वनि हमें एक शॉट से दूसरे शॉट तक ले जाने वाली आवाज़ उद्घाटक नहीं है बल्कि यह आवाज़ बार-बार एक ख़ास जगह और उसके अर्थों पर ज़ोर देती है। वह भारत-पाकिस्तान के बीच स्थित वाघा सीमा, सिक्ख सैनिक ताक़त का प्रदर्शन करते एक शिविर, एक तिब्बती शरणार्थी शिविर पर नज़र डालते हैं, और चाँदनी चौक के एक मकान की खिड़की पर बैठकर स्वतंत्रता दिवस की क़वायद को एक फ़ासले से देखते हैं। यह फ़ासला और चिंतन, पड़ताल का यह रवैया तस्वीर के साथ दर्शक का एक नया संबंध गढ़ता है। यह फ़ासला छवि और घटना, रोज़ाना के, रस्मी रूपों और हाशियाई परिधियों के बीच निहित संबंधों की दस्तावेज़ी पारदर्शिता को तोड़ता है। अभियान या जनपक्षधर वादी रवैये के साथ बनने वाली डॉक्युमेंटरी के विपरीत यह विचारशील रूप सच्चाई के बारे में निश्चयात्मक दावे करने और स्पष्ट आलोचनात्मक सीमाएँ स्थापित कर देने की बजाय प्रासंगिकता के अपने दायरे में खोजबीन की संभावनाएँ पैदा करता है।

बिखराव के आभास: विकेंद्रित दुनिया की कविता और चिंता

रुचिर जोशी की डॉक्युमेंटरी *इलेवन माइल्स* (1991) एक बेजोड़ रचना है। यह डॉक्युमेंटरी जातिशास्त्रीय डॉक्युमेंटरी परंपराओं की एक महत्वाकांक्षी कड़ी है। फ़िल्म में बाउल लोक नृत्य के प्रदर्शन, उसके दार्शनिक आधार और अनुभवों की पड़ताल को एक ऐसी संरचना में स्थित किया गया है जो बिल्कुल अलग-अलग आवाज़ों, अलग-अलग संवेदनाओं और संवेगों का समावेश करने में सक्षम है। चुनौती यह है कि इस निश्चित नृजातीय विषय को एक नए संदर्भ में कैसे रखा जाए, यानी इस लोक रूप को चालू इतिहास के साथ बनने वाले उसके संबंधों से काट कर कैसे देखा जाए। एक लिहाज़ से बाउल इतिहास की यात्रा में यह पहले से मौजूद हैः विभाजन से पहले की गायन परंपराओं से लेकर वैचारिक गोलबंदी की समकालीन परिस्थितियों (वाम मोर्चा सरकार द्वारा फ्रांसीसी क्रांति की याद में किया गया आयोजन), सांस्कृतिक आदान-प्रदान (पोलैंड में ग्रॉटोव्स्की के साथ), सांस्कृतिक निर्यात (समकालीन फ्रांस में नायाब पेशकथा) तक यह बात दिखाई देती है। यह यात्रा न केवल एक नए भूगोल से बनी है बल्कि महत्वपूर्ण बात यह है कि उससे यह भी तय होता है कि बाउल दर्शन, मुहावरा और कथानकीय रूप आधुनिक अनुभवों को किस तरह देखते हैं? मिसाल के तौर पर वह तकनीकी, जैसे बिजली के संगीतीय प्रयोगों और सामान्य रूप से शहर के दैनिक जीवन को किस तरह देखते हैं? इन लगातार फैलते अनुभवों के पीछे चलते हुए अलग-अलग परिधियाँ परिचित होते हुए भी अपिरिचित दिखाई देने लगती हैं। रात में शहर, उसके बाज़ारों, और विविध मनोरंजन साधनों से सजी उसकी फ़ुटपाथों से गुज़रते कलाकार को ऐसा ही लगता है। रात का शहर एक दिवास्वप्न-सा बन जाता है जो बार-बार यह याद दिलाता है कि सिनेमा के पुराने शहर कैसे थे (मोहन लाल कलकत्ता पर ही आधारित एक और फ़िल्म *जागते रहो* (शंभु मित्रा, 1956), में नशे में धुत्त होकर आत्मा की तरह सड़क पर भटकते हैं)। शहर के रंग-रूप में इस नई प्रदर्शनात्मकता के संचार से

नए नज़रिये खुलने लगते हैं, जो हमारे इर्द-गिर्द बिखरी छवियों को बिल्कुल नए सिरे से देखने और सोचने के लिए प्रेरित करते हैंः एक ऐसे शहर के बारे में सोचने के लिए जो लोगों से महरूम है, जहाँ मानव निर्मित परिवेश और वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं है।

यहाँ कथानक के परिचित रूपों और डॉक्युमेंटरी प्रक्रिया का एक शक्तिशाली अहसास उद्घाटित होता है मानो हमें नए सिरे से शुरुआत करने को कहा जा रहा हो। *इलेवन माइल्स* में यह बिखराव, कथानकीय प्रक्रिया का यह छितराव शहरी अनुभव की कथात्मकता के स्तर पर एक अन्य रचना में भी साफ़ दिखाई देता है। *दहन* (ऋतुपर्णो घोष, 1997) फ़िल्म एक सच्ची घटना पर आधारित है जिस पर बाद में एक उपन्यास भी लिखा गया। इस घटना में एक महिला रिपोर्टर कलकत्ता मेट्रो स्टेशन के बाहर एक महिला के साथ यौन उत्पीड़न की घटना देखती है और उसमें हस्तक्षेप करती है। इस घटना के ज़रिए घोष कई ज़िंदगियों — एक निर्भीक नागरिक, जो इस फ़िल्म में स्कूल शिक्षक है; पीड़ित, एक ऐसी महिला जिसने एक रुढ़िवादी, निम्न मध्यवर्गीय परिवार में विवाह किया है; और हमलावर की गर्लफ़्रेंड — को सामने लाते हैं। गर्लफ़्रेंड की कहानी को निर्देशक ने बहुत संक्षेप में पकड़ा है। हमलावर एक संपन्न परिवार से है उसकी गर्लफ़्रेंड इस घटना पर क्रुद्ध तो है मगर उसकी अपनी दुनिया के आंतरिक दबाव उसे ख़ामोश कर देते हैं। शुरुआती घटना के बाद ये तीनों महिलाएँ एक-दूसरे से कभी नहीं मिलतीं और इस तरह एक-दूसरे से कटे हुए दायरों के रूप में शहर की एक विखंडित तस्वीर उभर कर सामने आती है जिसमें प्रत्येक महिला अपनी स्थितियों और सीमाओं का खुद मुक़ाबला कर रही है। कथानक को आगे बढ़ाने के लिए घोष बग़ल से गुज़रने वाले राहगीरों के बयानों का भी सहारा लेते हैं और घर व कार्यस्थल पर पड़ने वाले सूक्ष्म-सामाजिक दबावों को रेखांकित करते हैं। ये दबाव एक हद के बाद सीधे-सीधे यौन अतिक्रमण का रूप भी ले लेते हैं। कई मौक़ों पर यह फ़िल्म एक जटिल टीवी धारावाहिक जैसी दिखाई देती है और कला सिनेमा व टेलीविज़न के नए दायरे के बीच परस्पर आदान-प्रदान के नए गतिविज्ञान की तरफ़ इशारा करती है।

सत्तर के दशक के संकट से निकलने की प्रक्रिया की छानबीन में हमने एक ऐसे भूदृश्य का उदय होते देखा है जिसमें अब तक के प्रख्यात प्रतीक नष्ट हो रहे हैं और एक उत्तर-औद्योगिक शहर में जगह और व्यक्ति के गठन की नई भावनाएँ अस्तित्व में आ रही हैं। बिखराव के ये संकेत सुरभि शर्मा की *जरी मरी — ऑफ़ क्लॉथ ऐण्ड अदर स्टोरीज़* (2001) में बड़ी सघनता के साथ दर्ज हैं। समकालीन परिवर्तनशील श्रम परिस्थितियों में घरेलू श्रम और कामगार औरत ही एकमात्र स्थायी संदर्भ स्रोत रह जाते हैं। मर्द तो काम की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते हैं जबकि कारख़ाने के बाहर से काम करवाने की नई व्यवस्था में औरतों को घर पर ही काम मिलने लगता है। परिवार की स्थिरता और पुनरुत्पादन के लिए इस परिवेश का संरक्षण महत्वपूर्ण हो जाता है। इन घरेलू कार्यस्थलों में सुरभि एक के बाद एक बहुत सारी औरतों से मिलती है जो छोटे-छोटे दरबेनुमा घरों में ही काम करती हैं। विक्रेता की छवि के साथ-साथ गति एवं अस्थिरता की छवियों के सहारे यह लघु रूप बिखराव का एक ऐसा चित्रपट मुहैया कराते हैं जिससे समकालीन कलात्मकता के एक नए अहसास को शक्ल मिलने लगती है। एक ज़माने का कपड़ा उत्पादक यह इलाक़ा हवाई अड्डे से बिल्कुल सटा हुआ है जहाँ लगातार हवाई जहाज़ आते-जाते रहते हैं। हवाई जहाज़ों की यह अनवरत आवाजाही इस परिधि को वस्तु और श्रम की वैश्विक अर्थव्यवस्था से जोड़ देती है। इस पूरे प्रसंग में फ़िल्मकार ट्रेड यूनियन संगठनों के पुराने रूपों में बची-खुची उम्मीदों को भी सामने लाती है। फ़िल्म में मज़दूर यूनियन की एक विफल गोलबंदी की तस्वीर खींची गई है। इन बिखरे हुए फलकों में यह छवि एक विचित्र अनैतिहासिकता लेकर आती है। नए दायरों और काम के नए रूपों के बारे में सोचने पर, जहाँ महिलाएँ समकालीन परिस्थितियों में इतनी अहम हैसियत लिए हुए हैं, कैसे-कैसे नए विचार उत्पन्न हो सकते हैं?[21]

सामाजिक पारलिंगी वेषधारण और प्रदर्शन का अंतहीन प्रलोभन

इस तरह का चित्राख्यान विरले ही मिलता है। जैसा कि हमने देखा, यह पुरुष — और आमतौर पर हिंसक पुरुष — ही डॉक्युमेंटरी और कला सिनेमा के बाहर की सिनेमाई दुनिया में छाए रहे हैं। मगर पुरुषों पर लगातार बढ़ता फ़ोकस न केवल उनके साथ पहचान की संभावनाएँ पैदा करता है बल्कि उन्हें पड़ताल की वस्तु के रूप में भी

पेश करता है। राहुल रॉय की डॉक्युमेंट्री *फ़ोर फ्रेंड्स* (2000) उत्तर-पश्चिमी दिल्ली के एक मोहल्ले में रहने वाले युवकों के बारे में है। यह फ़िल्म हमें सोचने के लिए प्रेरित करती है। न केवल भिन्न समकालीन परिस्थितियों में मर्दानेपन के स्रोत और उसके सामने आने वाली समस्याओं पर विचार करने का मौक़ा देती है, बल्कि अनुभवों को दर्ज करने में कथा साहित्य और कला प्रदर्शन के संसारों को एक-दूसरे से जोड़ने वाला पुल भी मुहैया कराती है। इस फ़िल्म में पुरुष पहचान का एक उल्लेखनीय संदर्भ बिंदु परिवार की भीतरी एकता और घर की परिधि ही है। अब ज़रूरी नहीं कि फ़िल्म के किरदार इनको अभिव्यक्ति, स्मृति व कामना के लिए माकूल जगह मानें। आपसी स्मृतियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली स्थल पुरुषों का समूह ही बनता है। यह समूह अनुभवों के निरंतर आदान-प्रदान के अलावा एक ऐसा संदर्भ भी मुहैया कराता है जहाँ वह सहज दिखाई देते हैं और समाज एवं उसकी अपेक्षाओं से बचकर एक शांत कोने में पनाह ले सकते हैं। यह एक महत्वपूर्ण भावनात्मक साधन भी है और निकास का ज़रिया भी। सामयिक अर्थों में इस सामूहिक का केंद्रीय विषय दैनिक जीवन है। ऐसी सामूहिकता जिसका मज़ा और सुख व्यक्तित्व विकास के चक्र में नहीं बल्कि उसकी पुनरावृत्ति में है। यहाँ तक कि व्यक्तिगत साक्षात्कारों के लिए भी फ़िल्मकार को बात करने के लिए परिवार के दायरे के बाहर, घर की बालकनी या छत ज़्यादा मुफ़ीद लगी या फिर उसे पुरुषों के अपने एकांत में जाना पड़ा।

यह समूह अपने-अपने व्यक्तिगत मर्दाना नज़रियों को सामने भी लाता है और उनकी सीमाओं के पार भी जाता है जिससे एक अंतर्वैयक्तिक दायरा पैदा होता है। मेरी राय में पुरुष समूह की यह सामूहिकता प्रदर्शनात्मकता से, एक ख़ास भूमिका अख़्तियार कर लेने के अभ्यास से, चारित्रिक विशिष्टताओं से, शैली और भाषा के छोटे-छोटे पहलुओं से निर्धारित होती है। समूह को संबोधित करने के लिए सदा किसी तजुर्बे/क़िस्से का सहारा लिया जाता है। यौन घटनाओं/अनुभवों को याद करने पर पूरा समूह हँसी से लोटपोट होने लगता है, जैसे, एक मानसिक रूप से असंतुलित महिला के साथ सामूहिक सेक्स का प्रसंग, जिसका उपसंहार उसके सामूहिक बलात्कार में होता है। यह हँसी-ठिठोली और कनखियों वाला हास्य है जिसमें दुनियादारी का ज्ञान दिया जा रहा है कि पुरुष कहाँ तक जा सकते हैं और औरतें असल में क्या चाहती हैं। इसके बाद फ़िल्मकार की आवाज़ हस्तक्षेप करके इस समूह-प्रदर्शन की लय को अस्त-व्यस्त कर देती है और एक विचारशील एवं नैतिक विमर्श शुरू हो जाता है।

रॉय की इस संवेदनशील फ़िल्म को उन नई मनोवृत्तियों के विखंडन की कोशिश के तौर पर देखा जा सकता है जो एक बिखरते राष्ट्र की ज़मीन से पैदा हो रही हैं। यही मनोवृत्तियाँ ही *अंकुश* या *तेज़ाब* जैसी फ़िल्मों को जन्म देती हैं और बताती हैं कि मर्दानगी भरी डींगों और शेख़ी के पीछे क्या है? इसी प्रकार, संभवतः *जरी मरी* को भी विखंडित पाठ की ही संज्ञा दी जा सकती है। यह फ़िल्म झोपड़पट्टी बस्तियों की बुनावट और उनके आंतरिक जीवन को उघाड़ कर हमें इस बात का अहसास कराती है कि कौन सी चीज़ है जो उन्हें एक दूसरे से बाँध कर रखे हुए है? यह भंगिमा वास्तविक को साहित्यिक और अभिनयात्मक इकाई के सामने ला खड़ा करती है, जिससे साहित्यिक और अभिनयात्मक को एक सार्थकता और सच्चाई को जन्म देने वाला आयाम नहीं मिल पाता। *फ़ोर फ्रेंड्स* की असली ताक़त इस बात में नहीं है कि उसमें दस्तावेज़ीकरण का एक नैतिक रूप से तटस्थ तरीक़ा अपनाया गया है (और यह बात कोई नज़रिया क़ायम कर पाने में विफलता से अलग है), बल्कि इस फ़िल्म की ताक़त पुरुष समूह की प्रदर्शनात्मकता, उनके इकट्ठा होने पर पैदा होने वाले अनूठेपन को दर्ज करने और प्रदर्शनात्मकता को एक भावात्मक शक्ति प्रदान करने, यह देख पाने में निहित है कि यह भी आत्मसाकार का ही एक तरीक़ा है।

लोकप्रिय सिनेमा हक़ीक़त को उघाड़ कर सच्चाई से लाज़िमी तौर पर झगड़ा मोल नहीं लेता। जैसा कि हमने देखा, हक़ीक़त एक तरह से सिनेमाई माहौल की निर्मिति में अंकित होती है, जिसमें मर्दाना ताक़त और फ़ंतासी के एक्शन का प्रदर्शन होता है।[22] इन फ़ंतासियों का एक निश्चित कथानकीय ढाँचा और प्रतीकात्मक अर्थव्यवस्था है, ये फ़ंतासी कथानकीय नियंत्रण के बाहर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर, बच्चन का अभिनय सबॉल्टर्न केंद्रित विमर्श और प्रतिनिध्यात्मक राजनीति की असफलता से प्रेरित रहा है। उनका अभिनय एक अभाव के अहसास की बुनियाद पर खड़ा है। अंततः उसका किरदार एक ऐसी काल्पनिक उपलब्धि हासिल कर लेता है जो खोखली भी होती है और आत्मसाकार की असंभाव्यता को भी नाटकीय बना देती है। यह मेलोड्रामाई त्रासदी की एक ऐसी

प्रजाति है जो शहरी मारधाड़ की विधा से मिलने वाली मानसिक उत्तेजना में खोए दर्शक को एक आंतरिक संतोष देती है। इस नुमाइश का जवाब नुमाइश के एक और मानक में ढूँढा जा सकता है। *अमर अकबर एंथनी* (1977, नशे में धुत्त दो नंबरी, जो सर्वशक्तिमान नहीं है), *लावारिस* (1981, नाजायज़ औलाद, जो अतिनाटकीय होने के साथ-साथ औरत का रूप धरकर परालैंगिक झलकियाँ भी पेश करता है), *शराबी* (1984), *डॉन* (1978, छोटे शहर का गँवार शहर आकर सर्वशक्तिशाली माफ़िया सरगना का हमशक्ल बनता है) और घरेलू कॉमेडी *चुपके-चुपके* (1975) आदि फ़िल्मों में बच्चन ने अपने ही किरदार का 'अन्य' रचा है।

बहुत सारे लोगों का कहना है कि आज के सिनेमा में संभवतः सबसे नुमाइशी व्यक्तित्व हास्य नायक गोविंदा का है। उनकी देहयष्टि और रूप-रंग लोकप्रिय हीरो की प्रचलित छवि से अलग हैं। गोविंदा रूढ़ सबॉल्टर्न वृत्तांतों का मज़ाक उड़ाते हैं और किसी ग्लैमरस और सामाजिक रूप से बहुत दूर बैठी औरत को हासिल करने की कोशिश या एक रूमानी नायक के रूप में अनपेक्षित सफलता प्राप्त करते हैं। उन्होंने अपनी एक ख़ास शैली विकसित की है जिसमें निरर्थक हाज़िरजवाबी और हास्यास्पद नाच-गानों की भरमार है। उनके नाच-गानों में तो कामोत्तेजक अभिनय की एक अलग ही लैंगिक दुनिया अस्तित्व में आती है। इस अभिनेता का निश्चय ही विस्तार से विश्लेषण किया जाना चाहिए मगर प्रस्तुत निबंध के लिहाज़ से और हिंसा व प्रदर्शनमूलकता के इर्द-गिर्द सीमित रहने की विवशता के चलते मैं ऐसे दो सितारों के बारे में ही बात करूँगा जिन्होंने अपने लिए एक मुक़ाबिलन जटिल और रंग-बिरंगी दुनिया-सी रच ली है।

एक ज़माने में थियेटर में अभिनय का प्रशिक्षण ले चुके नाना पाटेकर ने मुख्यधारा के सिनेमा में प्रदर्शन का एक नया मुहावरा पैदा कर दिया। अपनी नियंत्रित देह क्रियाओं, स्थायी गर्वभाव और ग़ैर-रस्मी संवाद अदायगी से ताक़त ग्रहण करने वाले ज़बानी हमलों के सहारे उन्होंने अभिनय के क्षेत्र में अपनी एक अलग जगह बना ली है। वह अपने विरोधियों पर विडंबनापूर्ण कटूक्तियों और बेरहम व्यंग्य के ज़रिए मार करते हैं। उनकी मौजूदगी एक रंग-बिरंगे और मारक हास्य/व्यंग्य का बोध कराती है। मज़े की बात यह है कि इस प्रदर्शन शैली का बड़ी विविधता के साथ इस्तेमाल किया गया है। यद्यपि पाटेकर को एक मर्दवादी क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दक्षिणपंथी राजनीति (महाराष्ट्र की शॉवेनिस्ट शिवसेना और मोटे तौर पर देश भर में चल रही हिंदू दक्षिणपंथी राजनीति) के साथ जोड़कर देखा जाने लगा है मगर परदे पर उनका व्यक्तित्व इतना एकांगी नहीं दिखाई देता। नतीजा, जहाँ एक तरफ़ *अंकुश*, *प्रहार* (नाना पाटेकर, 1999) और *क्रांतिवीर* (मेहुल कुमार, 1994) एक तरह से इस राजनीतिक रुझान की तस्दीक सी करती हैं वहीं दूसरी तरफ़ *सलाम बॉम्बे* (मीरा नायर, 1988) और *दिशा* (सई परांजपे, 1990) में उनकी भूमिकाएँ सामाजिक यथार्थवादी क़िस्म की दिखाई देती हैं। इनके अलावा *परिंदा*, *थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ* (अमोल पालेकर, 1990), *राजू बन गया जेंटलमैन* (अज़ीज़ मिर्ज़ा, 1992) और *गुलाम-ए-मुस्तफ़ा* (पार्थो घोष, 1998) जैसी फ़िल्में भी भारी विविधता दर्शाती हैं। इनमें कहीं नाना पाटेकर मनोरोगी गैंग्स्टर बनते हैं, कहीं मानसून और रूमानियत का अलख जगाते हैं, कहीं एक ज़माने की समाजवादी कल्पना के 'छोटे आदमी' की नज़र से कथावाचक-किरदार के रूप में मारक सामाजिक आलोचना पेश करते हैं तो कहीं हिंदू मध्यवर्ग के लोकाचार का अनुसरण करने वाले मुस्लिम गैंग्स्टर की भूमिका निभाते हैं। शुक्र है कि हाल के सालों में पैदा हुए निर्मम राष्ट्रवाद के कारण गुस्साने लगे प्रशंसकों के लिए नाना पाटेकर अभिनय की एक इच्छा, एक अभिनेता-सुलभ खोज-पड़ताल और पुनर्रचना की इच्छा सी जताते हैं। यही बात उनकी किसी भी एकतरफ़ा पहचान को मुश्किल में डाल देती है। कम से कम परदे पर उनका व्यक्तित्व किसी एकतरफ़ा पहचान की गुंजाइश नहीं देता।

आमिर ख़ान ने अपने कॅरियर की शुरुआत *राख* (आदित्य भट्टाचार्य, 1988) के साथ की थी। यह फ़िल्म कई लिहाज़ से मुंबइया फ़िल्म उद्योग में लंबे समय से चले आ रहे पुरुष प्रतिशोध की महागाथाओं का विखंडन थी। मगर जल्दी ही आमिर ख़ान भी फ़िल्म उद्योग के पिटे-पिटाए साँचों में ढल गए और *क़यामत से क़यामत तक* (मंसूर ख़ान, 1988) एवं *दिल* (इंद्र कुमार, 1990) जैसी फ़िल्मों के ज़रिए एक आत्मविश्वास से लबरेज़ ग़बरू जवान की छवि में परदे पर आने लगे। उनकी ये दोनों फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर बेजोड़ सफलता साबित हुईं। बाद की कुछ फ़िल्मों में उनका व्यक्तित्व ज़्यादा जटिल दिखाई दिया। *दिल है के मानता नहीं* (महेश भट्ट), *जो जीता वही सिकंदर* (मंसूर ख़ान) और *अंदाज़ अपना-अपना* (राजकुमार संतोषी) — इन सब फ़िल्मों में एक

क़िस्म का खिलंदड़पन है जो एक सीमा के बाद दिखाई देता है, जो विकृति और धूर्त्तता की ओर झुकने लगता है। नब्बे के दशक के मध्य में आमिर ख़ान के कॅरियर में आई गिरावट से ऐसा संकेत मिलने लगा कि उनका फ़िल्मी व्यक्तित्व अब एक नया रूप लेने जा रहा है। आमिर ने *राजा हिंदुस्तानी* के ज़रिए शहर में गँवार की भूमिका को भी बड़ी ख़ूबसूरती से निभाया। उसके बाद राम गोपाल वर्मा की *रंगीला* (1995) और विक्रम भट्ट की *गुलाम* (1998) में एक टपोरी के किरदार को भी उन्होंने अपने अभिनय से यादगार बना दिया। जब ऐसा लगने लगा था कि शहराती आवारा टपोरी का मुखौटा उनके चेहरे पर अच्छी तरह जम चुका है तभी आमिर ने एक पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय देशभक्त पुलिस वाले की भूमिका के साथ इस छवि को भी तोड़ दिया। उन्होंने जॉन मैथ्यू मथान की *सरफ़रोश* (1999) में देश के भीतर और बाहर से सक्रिय आतंकवादियों के ख़िलाफ़ एक कर्त्तव्यनिष्ठ पुलिस अफसर की भूमिका निभाई। इस फ़िल्म में भी और अपनी टपोरी वाली फ़िल्मों में भी आमिर का फिल्मी व्यक्तित्व हिंदू दक्षिणपंथी ख़ेमे की तरफ़ से ख़तरे की ज़द में पड़ती जा रही धर्मनिरपेक्ष विरासत को पुनर्जीवित करने की कोशिश करता दिखाई देता है हालाँकि *सरफ़रोश* में यह मुद्रा काफ़ी संतुलित और अस्पष्ट सी है। आमिर के शहराती फ़िल्मी व्यक्तित्व ने फ़रहान अख़्तर की *दिल चाहता है* (2001) की मौलिकता को भी एक हद तक अंधेरे में धकेल दिया। खुद फ़रहान अख़्तर के मुताबिक़, उन्होंने अपनी यह पहली फ़िल्म एक परिष्कृत, यप्पी दर्शक वर्ग को ध्यान में रखकर बनाई थी और वह सिनेमाई मुख्यधारा द्वारा रची गई छवियों के बरक्स प्यार, कामकाज और दोस्ती की नई भंगिमाएँ पेश करना चाहते थे। बहरहाल, इन सबके बाद आमिर ख़ान ने *लगान* (2001) बनाई जिसने विदेशी फ़िल्मों की श्रेणी में ऑस्कर के लिए मज़बूत दावेदारी पेश की। फ़िल्म के कथानक के मुताबिक़ देहाती पृष्ठभूमि में बनी यह फ़िल्म एक क्रिकेट मैच के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ भारतीय किसानों की मुठभेड़ पर आधारित थी। फ़िल्म की कहानी ने उस खेल के प्रति हमारे राष्ट्रीय उन्माद को जमकर भुनाया जिसमें भारत सचमुच एक महत्वपूर्ण खिलाड़ी बन चुका है। एक तरह से यह फ़िल्म किसी राष्ट्र के जीवन में आए पिछले ऐतिहासिक अनुभवों की बजाय नए ज़माने के वैश्वीकरण की हवाओं को ज़्यादा संबोधित करती है। यहाँ राष्ट्र की छवि निहायत मनभावन है। फ़िल्म में यह छवि विभिन्न सामाजिक समूहों और श्रेणियों के समावेशी प्रतिनिधित्व से लैस है, हालाँकि कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि कुछ ख़ास तबक़ों के प्रति माई-बापवादी रवैया अपनाया गया है (जैसा कि एक 'अछूत' पात्र के विषय में दिखाई देता है)। आमिर ने कोका कोला के विज्ञापनों की शृंखला में भी अपने इस अंदाज़ को क़ायम रखा और मुस्लिम खोखे वाले, शहरी दादा, पंजाबी किसान और बिहारी ठेकेदार जैसी कई भूमिकाएँ उन्होंने बड़ी ज़िंदादिली से निभाईं। इन किरदारों में रूढ़ छवियों से मुक्त व्यक्तित्व की संभावनाओं को मनोरंजक ढंग से तलाशने की कोशिश दिखाई देती है जबकि *लगान* और मुख्यधारा की अन्य फ़िल्मों से साफ़ पता चलता है कि यह सितारा राष्ट्रीय आत्मबोध के पुराने समावेशी स्वरूपों को पुनर्जीवित करने की कोशिश कर रहा है।

आइए अब घरेलू फ़िल्मों की दुनिया से निकलकर ब्रिटिश-भारतीय संस्कृति पर भी नज़र डालें। आप्रवासी जातीय संस्कृति और स्थानीय आचार-विचार के चौराहे पर खड़े भारतीयों के अनुभवों और समस्याओं पर केंद्रित फ़िल्मों की अपील और पहुँच कुछ साल पहले तक बहुत सीमित थी। दूसरी तरफ़ 'बॉलीवुड' भी केवल भारतीय और पाकिस्तानी मूल के दर्शकों तक ही सीमित था। मगर पिछले सालों की कुछ फ़िल्मों ने संस्कृतियों के बीच लेन-देन के नए संकेत दिए हैं। अब इस तरह की फ़िल्में किसी जातीय मूल या कला सिनेमाई दर्शक वर्ग तक सीमित नहीं हैं। *ईस्ट इज़ ईस्ट* (डेमियन ओडोनेल, 1999), *माई सन द फ़ैनेटिक* (उदयन प्रसाद, 1997), और *बेन्ड इट लाइक बेक्हम* (जिसे हिंदी में *फुटबॉल-शुटबॉल हाय रब्बा* के नाम से डब करके पेश किया गया था, गुरिंदर चड्ढा, 2002) आदि इसी तरह की कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्में हैं। इनमें से पहली दो फ़िल्मों ने बुनियादी तौर पर भारतीय समांतर सिनेमा की दुनिया के कलाकार रहे ओमपुरी को एक अंतर्राष्ट्रीय मान्यताप्राप्त अभिनेता बना दिया। कुछ लोगों का कहना है कि ये फ़िल्में एक हद तक ब्रिटिश सामाजिक यथार्थवाद के ही ढर्रे पर बनी हैं जिसे अब अलग-अलग जातीय संस्कृतियों और प्रभुत्वशाली ब्रिटिश संस्कृति के बीच खींचतान में हास्य और मेलोड्रामा के ज़रिए एक नए ख़ाके में ढालने की कोशिश की जा रही है। *गुडनेस ग्रेशियस मी* संभवतः इसी सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज है मगर उसकी रणनीतियाँ कुछ भिन्न हैं। यहाँ भी सांस्कृतिक विभेदों की परतें खोलने

वाली ताक़त प्रदर्शनात्मकता ही मुहैया कराती है। एकल चुटकलेबाज़ी के अंदाज़ में संगीतीय स्किट/कैबरे और कॉमेडी भरी उछल-कूद के ज़रिए यह टीवी कॉमेडी भारतीय जातीय लोकाचार को एक दुस्साहसपूर्ण भरोसे के साथ पेश करता है। आंशिक रूप से इस भरोसे की जड़ इस बात में भी हो सकती है कि स्किट वाली विधा सामाजिक यथार्थवादी साहित्य की मानवीय आवश्यकताओं से तटस्थ रहती है। दूसरी तरफ़ यह शृंखला ब्रिटिश दैहिक हास्य की अश्लील भंगिमाओं का भी उदाहरण है। उसमें ग़ुस्लख़ाना छाप लतीफ़ों और देह-उघाड़ू निरूपण का सहारा जमकर लिया गया है।

विश्लेषण के अंत में मैं प्रदर्शन की एक ख़ास क़िस्म पर नज़र डालना चाहता हूँ। यह ख़ुद सिनेमा की प्रदर्शनात्मकता है, हैरत में डाल देने वाले सौंदर्यबोध के वाहन के रूप में यहाँ तकनीक स्वयं एक बुनियादी आकर्षण बिंदु के रूप में सामने आती है, यहाँ सिनेमा के प्रति प्यार सिनेमा के इतिहास को बार-बार उद्धृत और पुनर्जीवित करते हुए ख़ुद यह तय करता है कि हम क्या देखेंगे और कैसे देखेंगे? इसकी मिसाल के तौर पर मैं एक ऐसी फ़िल्म का ज़िक्र करना चाहता हूँ जो शहर के बारे में, और समकालीन अनुभव व राजनीति के बारे में हिंसक एवं प्रदर्शनात्मक कल्पना के चौराहे पर खड़ी है।

राम गोपाल वर्मा की *सत्या* (1998) में गिरोहों की लड़ाई एक बेहद आत्मचेतन कैमरे की नज़र से दिखाई देती है। विशालकाय क्रेन पूरे अपार्टमेंट पर विहंगम दृष्टि डालते हुए आख़िर में लिफ़्ट से निकलते एक गिरोह पर जाकर टिक जाता है। इसके बाद किरदारों और कैमरे की गति एक-दूसरे के समानांतर चलती है, जिससे एक दोहरी उपस्थिति का आभास होता है। यह दृश्य नीचे सड़क पर हो रही भागमभाग को देखने के लिए छत से लिए गए दृश्यों के साथ ख़त्म होता है। यहाँ पर हॉलीवुड की फ़िल्मों के उद्धरण साफ़ हैं — फ़्रीडकिन की *द फ़्रेन्च कनेक्शन* (1971) से शुरू होकर स्कॉरसेसी की फ़िल्म *गुडफ़ेलाज़* (1990) में डी नीरो और पेस्सी की गोलियों की बौछार वाले दृश्य से अपने चरण पर पहुँचती है। भीखू और सत्या अपने दुश्मन गुरु नारायण का ख़ात्मा ऐसे ही करते हैं। चेंज का यह दृश्य नीचे से गुज़रती ट्रेन की पृष्ठभूमि में फ़िल्माया गया है। सिनेमा के उपकरण और दैनिक शहरी रफ़्तार एक दूसरे की नक़ल करते हैं, क्षण विशेष में जैसे विश्व सिनेमा का दिग्दर्शन हो जाता है। किरदार और उनकी क्रियाएँ एक दूसरे की परछाईं सी दिखाई देती हैं, मानो एक विधायी रूप की बेटन के सहारे वह सामाजिक अनुभव की बिल्कुल दूसरी दुनिया में पहुँच गई हों। यहाँ हमें प्रतिस्थापन की एक ऐसी प्रक्रिया दिखाई देती है जहाँ से सिनेमा को देखने का अनुभव न केवल आत्म-प्रासंगिक और स्वतः सांवेगिक हो जाता है बल्कि यथार्थ का एक ज़्यादा गहरा बोध भी सामने आता है।

सत्या में कैमरा फ्रेमिंग की सर्वज्ञता कुछ ऐसी है कि जिस तरह यह फ़िल्म अपने दर्शक को दैनिक सामाजिक विश्व और दहशत की दुनिया के बीच निहित अंतर्संबंधों और एक-दूसरे पर हावी हो जाने की क्रिया के बारे में एक समृद्ध नज़र मुहैया कराती है उससे दर्शक को एक उच्चतर स्थिति का आभास सा होने लगता है। मुंबई की एक भीड़ भरी सड़क के ऊपर बार की छत पर लगे कैमरे से लिए गए टॉप एंगल शॉट से हमें दिखाई देता है कि गुंडे सत्या को बेरहमी से पीट रहे हैं जबकि नीचे इस सबसे अनजान लोगों की भीड़ सहज ढंग से गुज़र रही है। जिस समय भीखू, सत्या और उनका गिरोह एक तलघर में अपने प्रतिद्वंद्वी को यातना दे रहे होते हैं उसी समय सत्या की प्रेमिका विद्या कैमरे के फ़्रेम में दाख़िल होती है। वह ऊपर से सड़क पर पड़ रही रोशनी में चुपचाप उस इमारत की बगल से गुज़रती दिखाई देती है, उसे वह नहीं दीखता जो हमें दीख रहा है। वर्मा ने डरावनी क़िस्म की *रात* (1991) में जिस तरह की अनायास दैहिक गतियों और किरदारों पर फ़ोकस का सुनियोजित इस्तेमाल किया था, *सत्या* में उसे और भी मुकम्मल तरीक़े से अपनाते हुए शहर की भीतरी/बाहरी दुनिया के समीकरण पर सवाल उठाए गए हैं। यहाँ कैमरा जब किसी पात्र की दैहिक गति को पकड़ने की कोशिश करता है तो यह हक़ीक़त सामने आने लगती है कि कभी-कभी हमारे निजी दायरे भी कितनी तेज़ी से बाहरी घुसपैठ का शिकार हो जाते हैं और कई बार उसके कितने हिंसक परिणाम सामने आते हैं। इस तरह की उच्च स्थैतिकता,

दर्शक को विभेदीकृत दायरों में गूँथ देने की क्रिया शास्त्रीय कथानक की सर्वज्ञ परंपराओं की बुनियाद पर खड़ी होती है मगर सबसे बढ़कर यह तकनीकी को हमारे सामने खड़ा करती है जिसके ज़रिए हमारी नज़र संगठित होती है। अलग-अलग स्थानों को समकालीन संचार के सबसे अहम उपकरण, मोबाइल फ़ोन, के माध्यम से बिल्कुल सटे हुए, मानो एक-दूसरे में विलीन हो जाने वाले दायरों के रूप में देखा जा सकता है।

हिंसा, प्रदर्शनात्मकता और सिनेमा प्रेम के इस उलझाव से राजनीतिक कल्पना के फ़लक पर क्या नतीजे निकलते हैं? जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, समकालीन राजनीतिक बदलाव पीछे उल्लिखित फ़िल्मों में विस्तारित पुरुष समूह, उसमें मोहल्ले-पड़ोस के बँधनों की बुनियाद और वंचना व अपमान की कथित भावनाओं के रूप कई तरह से प्रतिध्वनित होते दिखाई देते हैं। मैंने इस बात की तरफ़ संकेत किया है कि इस सिनेमाई शहर की नई भाषा से कई तरह की कथानकीय रणनीतियाँ सामने आ रही हैं। मगर सिनेमा के ज़रिए अनुभव का एक समग्र राजनीतिक सूत्रीकरण करना फिर भी कहीं ज़्यादा जटिल है। क्या इस विधा के साथ हमारे संबंधों को निर्धारित करने वाली ध्वनियों और चित्रों के साथ खिलवाड़ के ज़रिए हम वापस राजनीतिक दुनिया में पहुँच पाते हैं? मैं अपनी बात को *सत्या* में इस्तेमाल किए गए एक प्रतीक के साथ ख़त्म करना चाहता हूँ जिसे राजनीतिक परिदृश्य के समकालीन रूपों में सिनेमा के प्रदर्शनात्मक हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है।

अपने साथी भीखू की मौत का बदला लेने की क़सम खाकर सत्या समुद्र किनारे गणेश चतुर्थी की भीड़ में दाख़िल होता है। यह राष्ट्रवादी मोबिलाइज़ेशन के साथ एक सदी से भी ज़्यादा लंबे समय से जुड़ी आ रही एक महत्वपूर्ण शहरी-सामाजिक घटना है और समकालीन शिवसेना एवं हिंदुत्ववादी राजनीति के लिए महत्वपूर्ण सांकेतिक माध्यम का काम करती है। भीखू का हत्यारा भाऊ ठाकरे खुद एक माफ़िया सरगना है जो अब नेता बन चुका है। वह और उसके गिरोह के लोग देवी की पूजा-अर्चना के लिए यहाँ आते हैं। सत्या जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, कैमरा उस लाल कपड़े पर केंद्रित होने लगता है जिसमें उसका चाकू लिपटा हुआ है। यह लाल कवच भीड़ में अलग दिखाई देता है और हमें कपोला की *द गॉडफादर, पार्ट II* (1974) के उस दृश्य की याद दिलाता है जिसमें वीटो कॉर्लियोन किसी रोमन कैथलिक त्यौहार की भीड़भाड़ में उस इलाक़े के माफ़िया सरगना पर हमला करने के लिए आगे बढ़ता है। सत्या चाकुओं से गोद-गोद कर भाऊ ठाकरे को मार डालता है और जैसे-जैसे यह दृश्य भीड़ की अफ़रातफ़री में खोता जाता है वैसे-वैसे हम हमारा पीछा करती एक छवि के साथ अकेले छूटते जाते हैं। इस दृश्य में कैमरा देवी की प्रतिमा से काफ़ी ऊपर रखा गया है जहाँ से वह मृत खलनायक की अकेली पड़ी लाश और उसे भिगोकर वापस जाती समुद्री लहरों को एक चौड़े फ़लक पर अपनी नज़र में क़ैद कर सकता है। भाऊ के साथी बिखर चुके हैं, उसकी कमान बेमानी हो चुकी है, उसकी निर्जीव देह एक ऐसा नज़ारा पेश करती है जो किसी दैवी ब्रह्मांडीय उपस्थिति का अहसास कराती है और एक सिनेमाई कैमरे की सांस्कृतिक गतिशीलता को उजागर करती है। यहाँ इस क्षण के लालच में सिनेमाई संदर्भ को पकड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसा लगता है मानो यह फ़िल्म सिनेमा के प्रति हमारी आसक्ति के ज़रिए हमें भावनाओं के उद्वेग में बहा ले जाने के लिए दावत दे रही है। परदे और दर्शकों के बीच उस क्षणिक जुड़ाव की ऊर्जा उसके बाद समकालीन में हस्तक्षेप की दिशा में मुड़ जाती है, और राजनीतिक दृश्य के साथ हमारे जुड़ाव को छिन्न-भिन्न कर देती है।

संदर्भ

1. आशीष राज्याध्यक्ष, 'दि *"बॉलीवुडाइज़ेशन"* ऑफ़ दि इंडियन सिनेमाः कल्चरल नैशनलिज़्म इन ए ग्लोबल एरीना', प्रेबेन कारशोल्म (संपादित) *सिटी फ़्लिक्सः सिनेमा, अरबन वल्ड् र्स ऐण्ड मॉडर्निटीज़ इन इंडिया ऐण्ड बियाँड* में, इंटरनैशनल डिवेलपमेंट स्टडीज़, रॉस्किल्ड यूनिवर्सिटी ओकेज़नल पेपर 22, 2002; तथा माधव प्रसाद, 'दिस थिंग कॉल्ड बॉलीवुड', *सेमिनार* 525, मई 2003.
2. पार्थ चटर्जी, *'इज़ दि इंडियन सिटी फ़ाइनली बिकमिंग बुर्ज़ुआ'*, इस खंड में सत्तर के दशक में सामने आए नए शासकीय रूपों पर चर्चा है.
3. डेविड सेलबॉर्न, *एन आई टू इंडियाः दि अनमास्किंग ऑफ़ ए टिरनी*, पेलिकन, 1977; एम्मा तार्लो, *अनसेट्लिंग मेमरीज़ः नेरेटिव्ज़ ऑफ़ दि 'इमरजेंसी' इन डेल्ही*, क्रिस्टोफर हर्स्ट, 2003.
4. आदित्य निगम, 'डिसलोकेटिंग डेल्हीः ए सिटी इन द 1990ज़', *सराय रीडर 01ः द पब्लिक डोमेन*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2001; ए. शरण, 'क्लेम्ज़ ऑन क्लीनलीनेसः एनवायर्नमेंट ऐण्ड जस्टिस इन कन्टेम्प्ररी डेल्ही', *सराय रीडर 02ः द सिटीज़ ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली,

सीएसडीएस, 2002.

5. माधव प्रसाद, *दि आइडियॉलजी ऑफ़ द हिंदी फ़िल्म*, दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1998.
6. गीता कपूर, *आर्टिक्युलेटिंग द सेल्फ़ इनटू हिस्ट्रीः घटक'स जुगती तक्को आर गप्पो*, गीता कपूर, *व्हेन वॉज़ मॉडर्निज़्म*, दिल्ली, तूलिका, 2000 में; आशीष राज्याध्यक्ष, *ऋत्विक घटकः ए रिटर्न टू दि एपिक*.
7. देखें रवि वासुदेवन, *'दि एग्ज़िलरेशन ऑफ़ ड्रेडः जॉन्र, नैरेटिव फ़ॉर्म ऐण्ड फ़िल्म स्टाइल इन कन्टेम्परी इन अरबन ऐक्शन फ़िल्म्स'*, *सराय रीडर 02ः दि सिटीज ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2002.
8. रवि वासुदेवन, 'द डबल टेक ऑफ़ माडर्निज़्म इन द वर्क ऑफ़ सत्यजीत रे', *जरनल ऑफ़ दि मूविंग इमेज 2*, कलकत्ता, जाधवपुर युनिवर्सिटी, 2000.
9. इस प्रक्रिया का एक विचारोत्तेजक विश्लेषण हारुन फारूख़ी के डॉक्युमेंट्री लेख, *इमेजेज़ ऑफ़ दि वर्ल्ड ऐण्ड द इंस्क्रिप्शन ऑफ़ द वॉर* (1988) में मिलता है.
10. इस फ़िल्म और यश चोपड़ा के काम के बारे में और ज़्यादा जानकारी के लिए देखें, रेचेल ड्वायर *यश चोपड़ा*, लंदन, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट, 2002.
11. कुमार शहानी के काम के बारे में देखें, *फ्रेमवर्क*, 30-31, 1986, कुमार शहानी पर केंद्रित डॉसियेर.
12. विनोद पवराला, 'अदर वॉइसेज़ः एक्सप्लोरिंग दि 'सिनेमा ऑफ़ रेज़ीस्टेंस', *इंडियन दर्पण*, हैदराबाद, 2000.
13. जैसे शिवसेना पर, थॉमस ब्लॉम हैन्सेन, *वेजेज़ ऑफ़ वायलेंसः नेमिंग ऐण्ड आइडेंटिटी इन पोस्ट कॉलोनियल बॉम्बे*, प्रिंस्टन, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, 2001.
14. यह तर्क आशीष राज्याध्यक्ष और पॉल विलमैन ने *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा*, दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, द्वितीय संस्करण, 1999, पृष्ठ 469 में दिया है.
15. नायकन के लिए देखें, ललिता गोपालन, *ए सिनेमा ऑफ़ इंटरप्शंस*, लंदन, ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीट्यूट, 2002.
16. रंजनी मजुमदार, 'रुइन ऐण्ड दि अनकैनी सिटी : मेमरी, डिस्पेयर ऐण्ड डैथ इन परिदा', *सराय रीडर 02 : दि सिटीज़ ऑफ़ एवरीडे लाइफ़*, दिल्ली, सीएसडीएस, 2002.
17. इस ख़याल के लिए मैं इंदिरा चंद्रशेखर का आभार व्यक्त करता हूँ.
18. इरा भास्कर, 'मेलोड्रामा इन दि अरबन एक्शन फ़िल्म', कार्यशाला — दि एग्ज़िलरेशन ऑफ़ ड्रेड : जॉन्र, नेरेटिव फ़ॉर्म ऐण्ड फ़िल्म स्टाइल इन दि अरबन एक्शन फ़िल्म्स, सराय, सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसायटीज़, दिल्ली, नवंबर 2001 में पेश किया गया पर्चा.
19. रंजनी मजुमदार, 'रुइन ऐण्ड दि अनकैनी सिटी'.
20. हिंदुत्व आंदोलन के बारे में, तपन बसु, पी.के.दत्ता, सुमित सरकार, तनिका सरकार, सम्बुद्धा सेन, *ख़ाकी शॉर्ट्स ऐण्ड सैफ़्रन फ़्लैग्स*, दिल्ली ओरिएंट लॉंगमैन, 1993; क्रिस्टोफ़ जैफ़्रलॉ, *दि हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, 1998.
21. इस तरह की बिखरी हुई कार्यपरिस्थितियों के विश्लेषण के लिए, यान ब्रेमन, *फुटलूज़ लेबरः वर्किंग इन इंडिया'ज़ इनफॉर्मल इकॉनमी*, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1996.
22. नीरस दैनिक जीवन, प्रदर्शनमूलक अतिरंजना और यूटोपियन पारलौकिकता के निरूपणों के बीच निहित संबंधों पर रिचर्ड डॉयर ने 'एंटरटेनमेंट ऐण्ड यूटोपिया', बिल निकोलस (सं.), *मूवीज़ ऐण्ड मेथड*, खंड 2, बर्कली, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, 1987 में विचार किया है.